प्रकाशक का वक्तव्य

कर्म प्रधान जैन दर्शन के सम्यग्ज्ञान के लिये कर्म तत्व का ज्ञान होना परम आवश्यक है। जैन आगमों का यथार्थ व पूर्ण ज्ञान भी कर्म तत्व का जैसा स्पष्ट एवं क्रमबद्ध ज्ञान 'कर्म ग्रन्थों' के द्वारा हो सकता है, वैसा तद्विषयक अन्य ग्रन्थों द्वारा नही। यही कारण है कि जैन साहित्य में कर्म ग्रन्थों का अपना एक विशेष महत्वपूर्ण स्थान रहा है। कर्म तत्व के जिज्ञासुओं और शोधकर्ताओं मे भी जितना प्रचार प्रसार इन ग्रन्थों का देखा जाता है, उतना उस विपय के दूसरे ग्रन्थों का नही। इससे इनकी उपादेयता एव महत्ता स्वय सिद्ध है।

कर्म ग्रन्थों में भी विषय वस्तु की महत्ता तथा सरलता के कारण प्रथम कर्म ग्रन्थ का प्रचार विशेष रुप से देखा जाता है। जो पाठक विषय की गूढता तथा व्यापकता के कारण दूसरे कर्म ग्रन्थों के पठन-पाठन में अपने को असमर्थ पाते है, वे भी यथा संम्भव प्रथम कर्म ग्रन्थ को पढ़ते-पढ़ाते है। यही कारण है कि इसी को अधिका-धिक उपयोगी, सुबोध और सुलभ वनाने के प्रयत्न भी किये ग्ये है। गुजराती भाषा में इस दिशा में काफी काम हुआ है। उसमें इन सभी ग्रन्थों पर टीका तथा विलेचन आदि उपलब्ध है। उदाहरण के लिए श्री जयसोमसूरि

तथा श्रीजीवविजयजी कृत दो 'टबे' प्रकाशित हो चुके है। एक 'टवा' जिसमें कर्ता के नाम का उल्लेख नही है, आगरा के "श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ मन्दिर" के भाण्डागार से प्राप्त हुआ है। इसकी भाषा शैली से प्रतीत होता है कि यह ढाई शताब्दि पूर्व लिखा गया होगा। श्रीमति चन्द्र कृत 'टवा' भी प्राप्त है, जो अभी तक अप्रकाशित है। पठन-पाठन में प्रथम दो 'टवो' का विशेष प्रचलन है। वे है भी अधिक विशद। लेकिन वे सभी पुरानी गुजराती भाषा मे है, अतः सव के लिए सुगम नही है। आज जव कि सर्वत्र हिन्दी का प्रचलन है और उसको समझने-वोलने वालों की संख्या मे निरन्तर वृद्धि होती जा रही है, इस साहित्य को भी हिन्दी में उपलब्ध कराने का जितना प्रयत्न किया जाय कम है इसी उद्देश्य को सामने रखकर इस प्रथम कर्म ग्रन्थ को अनुवाद और विवेचन सहित हिन्दी मे प्रकाशित किया गया है।

इसकी अपनी कुछ विशेषताएं, जो अन्यत्र उपलब्ध नही है। प्रथम तो यह हिन्दी मे है। साथ ही इसके अनुवाद की भाषा तथा विषय विवेचन की शैली स्पष्ट एव सुवोध है। इसके अतिरिक्त विषय को अधिक स्पष्ट तथा वोधगम्य वनाने के लिए, इसमें एक विस्तृत प्रस्तावना भी दी गई है, जिसमें कर्मवाद व कर्म शास्त्र से सम्बन्धित अनेक आवश्यक अगों पर प्रकाश डाला गया है। इसी प्रकार ग्रन्थ परिचय और विषय प्रवेश में भी अनेक बातों की चर्चा है। इसमें एक विशेषता यह है कि पूर्व प्रकाशित कर्म ग्रन्थो मे जो वात नही है वह इसमे प्रश्नोत्तर के रूप में प्रस्तुत की गयी है। अन्त में ग्रन्थकार की एक संक्षिप्त जीवनी भी दी गई है। इस तरह प्रस्तुत ग्रन्थ

को यथा संभव अधिकाधिक उपयोगी वनाने का प्रयत्न किया गया है।

कर्मग्रन्थ के छहों भागो को अनेक विद्यालयों तथा धार्मिक परीक्षा वोर्ड़ों (जैसे-श्री साधुमार्गी जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, बीकानेर व श्री तिलोकरत्न स्थानकवासी जैन धार्मिक परीक्षा वोर्ड, पाथर्डी) ने अपने पाठ्यक्रमो मे सम्मिलित किया है। अतः धार्मिक परीक्षाओं मे सम्मिलित होने वाले साधु-साध्वी, श्रावक श्राविका तथा सकल जैन तत्व जिज्ञासुओ की ओर से इसकी काफी माग रहती है, जिनकी पूर्ति करना अत्यावश्यक है। पहले तीन बार आगरा के श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल की ओर से कर्मग्रन्थ के सभी भागों का प्रकाशन हुआ था। तत्पश्चात तृतीय और अन्तिम प्रकाशन सन् १९४९ मे हुआ था। वर्तमान मे ये सभी भाग प्राय. अप्राप्य है, इसीलिए इसका पुनः प्रकाशन कराने का निश्चय किया गया है। पुस्तक प्रकाशन से जो आय होगी, उसका उपयोग पुन. इसके दूसरे भागों के प्रकाशन में किया जायगा। इस सस्था द्वारा इसके पूर्व भी 'रत्नाकर पच्चीसी' तथा 'सृष्टि कर्तृत्व मीमासा' नामक दो पुस्तकों का प्रकाशन किया जा चुका है। पुस्तक प्रकाशन के इस शुभ कार्य मे जिन महानुभावों का उदारतापूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है, उनकी शुभ नामावली पुस्तक मे संलग्न है।

अन्त में कर्मग्रन्थ के प्रस्तुत प्रकाशन को सहृदय पाठको के सम्मुख रखते हुए हम आशा एवं अपेक्षा करते है कि वे इसका अधिकाधिक उपयोग करेगे।

पुस्तक के प्रकाशन में अत्यन्त सावधानी बरती गयी है। लेकिन यदि कोई त्रुटी रह गयी हो तो पाठकगण सुधार लेवे। हम प्रसारण प्रेस व्यस्थापक एवं कार्य कत्ताओं के भी अत्यन्त आभारी है। जिन्होंने बहुत ही कम समय में सुन्दर एवं उत्तम प्रकार से पुस्तक का प्रकाशन का कार्य संपन्न किया किया। पुस्तक प्रकाशन कार्य के लिये सहायता प्रदान करने वाले एवं समय-२ पर यथोचित मार्ग दर्शन वाले भाईयों एवं वहिनों के प्रति हम कृतज्ञता प्रकट करता अपना पावन कर्त्तव्य समझते है। हमें पूरा विश्वास है कि प्रस्तुत ग्रन्थों पाठकों के लिये उपयोगी एवं रुचिकर सिद्ध होगा।

मिती पौष कृष्णा ३ — निवेदक
सं. २०२६ वीर सं २४९६ — शांतिलाल भटेवरा जैन

अनुक्रमणिका

दान दाताओं की शुभनामावली

२५१) गुप्त नाम से
५१) श्रीमान वकील सा. पुनमचंदजी चोपड़ा, रतलाम
५१) श्रीमती शांताबहिन पति शांतिलालजी पटवा, रतलाम
५१) श्रीमती स्व.बहिन गंगाबाई भटेवरा की स्मृति में, रतलाम
३१) श्रीमान गुप्तदानी महानुभाव, रतलाम
२५) श्री मुणत केप स्टोर, रतलाम
२५) श्रीमति स्व. सेठ दीपचंदजी रखबदासजी भटेवरा निम्बोद, की स्मृति में रतलाम
२५) श्रीमती छोटीबाई पति हमीरमलजी मेहता, रतलाम
२५) श्रीमती फुलीबाई पिरोदिया, रतलाम
२५) श्रीमती कुसुमलताबहिन पति कांतिलालजी मेहता, रतलाम
२५) श्रीमान सेठ पन्नालालजी शैतानमलजी बरड़िया, रतलाम
२५) श्रीमान सेठ झमकलालजी छाजेड़, रतलाम
२५) श्रीमान सेठ भागीरथजी धुलचन्दजी कटारिया, रतलाम
११) श्रीमान सेठ भटेवरा फतेचन्दजी मोतीलालजी, रतलाम
११) श्रीमान सेठ प्रकाशचन्द्रजी जैन, रतलाम
११) श्रीमती पुखराजबाई कुमठ, रतलाम
११) गुप्तदान शीला बहिन, रतलाम
११) श्रीमती चन्दरबाई पति बागमलजी मुनत, रतलाम
११) श्रीमती कान्ताबाई पति गेन्दालालजी कटारिया, रतलाम
११) श्रीमती मानकबाई पति समरथमलजी मालवी, रतलाम
१०) श्रीमती प्यारीबाई पति जयराजजी मुनत, रतलाम

५) श्रीमान सेठ तनसुखलालजी कल्याणमलजी अग्रवाल, रतलाम
५) श्रीमान सेठ शैतानमलजी रतनलालजी चण्डालिया, रतलाम
५) श्रीमान सेठ समीरमलजी लेखराजजी बौराना, रतलाम
५) श्रीमान सेठ माणकलालजी केशरीमलजी हिगड़, रतलाम
५) श्रीमान सेठ समरथमलजी धुलजी बाफणा, रतलाम
५) श्रीमान सेठ शांतिलालजी रतनलालजी कोठारी, रतलाम
५) श्रीमान सेठ समरथमलजी राजमलजी आचरिया, रतलाम
५) श्री सिद्ध चक्र मडल, रतलाम
५) श्रीमती धुरीबाई पति चंपालालजी पिरोदिया, रतलाम
५) श्रीमती कमलाबाई पति बसन्तीलालजी कटारिया, रतलाम
५) श्रीमती चांदबाई पति चंपालालजी कटारिया, रतलाम
५) श्रीमती सुमनबाई नाहर, रतलाम
५) श्रीमती रतनबाई पति लालचंदजी मुनत, रतलाम
५) श्रीमती रतनबाई नामली वाला, रतलाम
५) श्रीमती मोहनबाई नामली वाला, रतलाम
५) श्रीमती कोमलबाई पति हस्तीमलजी मुनत, रतलाम
५) श्रीमती मोत्तनबाई मुनत, रतलाम
५) श्रीमती नानीबाई चांदबाई ओगा वाला, रतलाम
३) श्रीमान सेठ कांतिलालजी माणकलालजी पटवा, रतलाम
२) श्रीमान सेठ वर्धमान गेन्दालालजी कटारिया, रतलाम
२) श्रीमती कोमलबाई पति इन्दरमलजी कटारिया, रतलाम
२) श्रीमती मोहनबाई पति बसन्तीलालजी पिरोदिया, रतलाम

— * —

शास्त्रीय-मंगलाचरण

चत्तारि परमगाणी, दुल्लहाणीह जन्तुणो ।
माणु सत्तं सुईसद्धा, संजम्मिय वीरियं ॥उत्तरा अ. ३ गाथा १ ॥
असखयं जीविय मा पमायए, जरोवणीयस्सहु णत्थि ताण ।
एव वियाणाहि जणेपमत्ते, किण्णु विहिसा अजयागहिति ॥
॥उत्तरा अ. ४ गाथा १॥

सुत्तेसुयावि पडिबुद्धजीवी, णो वीससे पंड़िए आसुपण्णे ।
धोरा मुहुत्ता अवलं शरीरं, भारंडपक्खी व चरेऽप्पमत्ते ॥
॥उत्तरा अ. ४ गाथा ६॥

ससार दावानल दाहणीरं, सम्मोह धुलि हरणे समीर ।
माया रसादा रणसार सीर, नमामी वीरं गिरीसार धीरं ॥
खणमित्त सुक्का, वहुकाल दुक्खा, पगाम दुक्खा, अणिगाम सुक्खा,
ससार मुक्खस्स विपक्खभूया, खाणि अन्नत्थाण उ काम भोगा ।
परिव्वयन्ते अणियत्तकामे, अहोय राओ परितप्प्य माणे ।
अण्ण प्पमत्ते धणमे समाणे, पप्पोत्ति मच्चुं पुरिसो जरंचं ॥

तुभ्यं नमः परमपूज्य गणाधिपाय,
तुभ्य नमः भुवन मानव पूजिताय ।
तुभ्य नमः सकल सद्गुण भूपिताय,
नानेशनाम विदिताय नमो नमस्ते ॥१॥

नानेशाचार्य महान् है,
तप सयम गुण खान ।
ऐसे सुज्ञानी आचार्यजी को,
मेरे अनेकों अनेकों प्रणाम ॥२॥

नाण दसण संपन्न,
तव चारित्र संजुत्तं ।
पणमामि उद्दं गुरुं वं,
नानेश आयरिय नामः ॥३॥

प्रस्तावना

कर्मवाद का मन्तव्य

कर्मवाद का मानना यह है कि सुख-दु:ख, सम्पत्ति-विपत्ति, ऊच-नीच आदि जो अनेक अवस्थाएं दृष्टि-गोचर होती है, उनके होने मे काल, स्वभाव, पुरुषार्थ आदि अन्य-अन्य कारणों की तरह कर्म भी एक कारण है। परन्तु अन्य दर्शनों की तरह कर्मवाद-प्रधान जैन-दर्शन ईश्वर को उक्त अवस्थाओं का या सृष्टि की उत्पत्ति का कारण नही मानता। दूसरे दर्शनों में किसी समय सृष्टि की उत्पन्न होना माना गया है; अतएव उनमे सृष्टि की उत्पत्ति के साथ किसी न किसी तरह का ईश्वर का सम्बन्ध जोड़ दिया गया है। न्यायदर्शन, गौतमसूत्र अ. ४, आ १, सू. २१ में कहा है कि अच्छे-बुरे कर्म के फल ईश्वर की प्रेरणा से मिलते है—"तत्कारितत्वाद हेतु:"।

वैशेषिक दर्शन, प्रशस्तपाद-भाष्य पृ ४८ में ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता मानकर, उसके स्वरूप का वर्णन किया है।

योगदर्शन, समाधिपाद सू. २४ के भाष्य व टीका में ईश्वर के अधिष्ठान से प्रकृति का परिणाम–जड़ जगत का फैलाव माना है।

और श्री शङ्कराचार्य्य ने भी अपने ब्रह्मसूत्र २-१-२६ के भाष्य में, उपनिषद् के आधार पर जगह जगह ब्रह्म को सृष्टि का उपादान कारण सिद्ध किया है। जैसे:—

"चेतनमेकमद्वितीयं ब्रह्म क्षीरादिवद्देवादिवच्चानपेक्ष्य वाह्य-साधनं स्वयं परिणममानं जगतः कारणमिति स्थितम्।"

"तस्मादशेषवस्तुविषयमेवेदं सर्वविज्ञानं सर्वस्य ब्रह्मकार्यतापेक्षयोपन्यस्यत इति द्रष्टव्यम्"–ब्रह्म अ. २, पा. ३, अ. १, सू. ६ का भाष्य।

"अतः श्रुतिप्रामाण्यादेकस्माद्ब्रह्मण आकाशादिमहाभूतोत्पत्तिक्रमेण जगज्जातमिति निश्चीयते"–ब्रह्म. अ. २, पा. ३, अ. १, सू. ७ का भाष्य।

परन्तु जीवों से फल भोगवाने के लिए जैन-दर्शन ईश्वर को कर्म का प्रेरक नहीं मानता। क्योंकि कर्मवाद का मन्तव्य है कि जैसे जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है वैसे ही उसके फल को भोगने में भी। कहा है कि–"यः कर्त्ता कर्मभेदाना, भोक्ता कर्मफलस्य च। संसर्ता परिनिर्वाता स ह्यात्मा नान्यलक्षय"॥१॥

इसी प्रकार जैनदर्शन ईश्वर को सृष्टि का अधिष्ठाता भी नहीं मानता, क्योकि उसके मत से सृष्टि अनादि अनन्त होने से वह कभी अपूर्व उत्पन्न नही हुई तथा वह स्वय ही परिणमन-शील है, इसलिये ईश्वर के अधिष्ठान की अपेक्षा नही रखती।

कर्मवाद पर होने वाले मुख्य आक्षेप और उनका समाधान

ईश्वर को कर्त्ता या प्रेरक मानने वाले, कर्मवाद पर नीचे लिखे तीन आक्षेप करते है —

१—घड़ी, मकान आदि छोटी-मोटी चीजे यदि किसी व्यक्ति के द्वारा ही निर्मित होती है तो फिर सम्पूर्ण जगत्, जो कि कार्यरूप दिखाई देता है, उसका भी उत्पादक कोई अवश्य होना चाहिये। २—सभी प्राणी अच्छे या बुरे कर्म करते है, पर कोई बुरे कर्म का फल नही चाहता और कर्म स्वय जड़ होने से किसी चेतन की प्रेरणा के बिना फल देने मे असमर्थ है। इसलिये कर्मवादियों को भी मानना चाहिये कि ईश्वर ही

प्राणियों को कर्म-फल भोगवाता है। ३—ईश्वर एक ऐसा व्यक्ति होना चाहिये कि जो सदा से मुक्त हो, और मुक्त जीवों की अपेक्षा भी जिसमें कुछ विशेषता हो। इसलिये कर्मवाद का यह मानना ठीक नही कि कर्म से छूट जाने पर सभी जीव मुक्त अर्थात् ईश्वर हो जाते है।

पहले आपेक्ष का समाधान—यह जगत् किसी समय नया नही बना, वह सदा से ही है। हां, इसमें परिवर्तन हुआ करते है। अनेक परिवर्तन ऐसे होते है कि जिनके होने में मनुष्य आदि प्राणीवर्ग के प्रयत्न की अपेक्षा देखी जाती है, तथा ऐसे परिवर्तन भी होते है कि जिनमे किसी के प्रयत्न की अपेक्षा नही रहती। वे जड़ तत्त्वों के तरह तरह के संयोगो से-उष्णता, बेग, क्रिया आदि शक्तियों से बनते रहते है। उदाहरणार्थ, मिट्टी पत्थर आदि चीजों के इकट्ठा होने से छोटे-मोटे टीले या पहाड़ का बन जाना; इधर-उधर से पानी का प्रवाह मिल जाने से उनका नदी रूप मे बहना; भाप का पानी रूप में बरसना और फिर से पानी का भाप रूप बन जाना इत्यादि। इसलिये ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता मानने की कोई जरूरत नहीं है।

दूसरे आपेक्षा का समाधान—प्राणी जैसा कर्म करते है वैसा फल उनको कर्म के द्वारा ही मिल जाता है। कर्म जड़ है और प्राणी अपने किये बुरे कर्म का फल नही चाहते, यह ठीक है, पर यह ध्यान में रखना चाहिये कि जीव के चेतन के सग से कर्म में ऐसी शक्ति पैदा हो जाती है कि जिससे वह अपने अच्छे-बुरे विपाको को नियत समय पर जीव पर प्रकट करता है। कर्मवाद यह नहीं मानता कि चेतन के सम्बन्ध के विना ही जड़ कर्म भोग देने में समर्थ है। वह इतना ही कहता है

कि फल देने के लिये ईश्वर रूप चेतन की प्रेरणा मानने की कोई जरूरत नही। क्योंकि सभी जीव चेतन है। वे जैसा कर्म करते है उसके अनुसार उनकी बुद्धि वैसी ही बन जाती है, जिससे बुरे कर्म के फल की इच्छा न रहने पर भी वे ऐसा कृत्य कर बैठते है कि जिससे उनको अपने कर्मानुसार फल मिल जाता है। कर्म करना एक बात है और फल को न चाहना दूसरी बात। केवल चाहना न होने से ही किये कर्म का फल मिलने से रुक नही सकता सामग्री इकट्ठी हो गई, फिर कार्य आप ही आप होने लगता है। उदाहरणार्थ—एक मनुष्य धूप में खड़ा है, गर्म चीज खाता है और चाहता है कि प्यास न लगे; सो क्या किसी तरह प्यास रुक सकती है ? ईश्वर कर्तृत्व-वादी कहते है कि ईश्वर की ईच्छा से प्रेरित होकर कर्म अपना अपना फल प्राणियों पर प्रकट करते है। इस पर कर्म-वादी कहते है कि कर्म करने के समय परिणामानुसार जीव में ऐसे सस्कार पड़ जाते है कि जिनसे प्रेरित होकर कर्त्ता जीव कर्म के फल को आप ही भोगते है और कर्म उन पर अपने फल को आप ही प्रकट करते है।

तीसरे आपेक्ष का समाधान—ईश्वर चेतन है और जीव भी चेतन; फिर उनमें अन्तर ही क्या है ? हां अन्तर इतना हो सकता है कि जीव की सभी शक्तिया आवरणों से घिरी हुई है और ईश्वर की नही। पर जिस समय जीव अपने आव-रणों को हटा देता है, उस समय तो उसकी सभी शक्तियां पूर्ण रूप मे प्रकाशित हो जाती है। फिर जीव और ईश्वर में विपमता किस बात की ? विपमता का कारण जो औपाधिक कर्म है, उसके हट जाने पर भी यदि विपमता बनी रही तो फिर मुक्ति ही क्या है ? विपमता का राज्य संसार तक ही परिमित है, आगे

नहीं । इसलिये-कर्मवाद के अनुसार यह मानने में कोई आपत्ति नही कि सभी मुक्त जीव ईश्वर ही है । केवल विश्वास के बल पर यह कहना कि ईश्वर एक ही होना चाहिये, उचित नही । सभी आत्मा तात्विक दृष्टि से ईश्वर ही है । केवल बन्धन के कारण वे छोटे-मोटे जीव रूप में देखे जाते है, यह सिद्धांत सभी को अपना ईश्वरत्व प्रकट करने के लिये पूर्ण बल देता है ।

व्यवहार और परमार्थ में कर्मवाद की उपयोगिता

इस लोक से या परलोक से सम्बन्ध रखने वाले किसी काम में जब मनुष्य प्रवृत्ति करता है तब यह तो असम्भव ही है कि उसे किसी न किसी विघ्न का सामना करना न पड़े । सब कामों में सबको थोड़े बहुत प्रमाण में शारीरिक या मानसिक विघ्न आते ही है । ऐसी दशा में देखा जाता है कि बहुत लोग चचल हो जाते है । घबड़ाकर दूसरों को दूषित ठहराकर उन्हें कोसते है । इस तरह विपत्ति के समय एक तरफ बाहरी दुश्मन बढ़ जाते है; दूसरी तरफ बुद्धि अस्थिर होने से अपनी भूल दिखाई नही देती । अन्त में मनुष्य व्यग्रता के कारण अपने आरम्भ किये हुये सब कामों को छोड़ बैठता है और प्रयत्न तथा शक्ति के साथ न्याय का भी गला घोटता है । इसलिये उस समय उस मनुष्य के लिये एक ऐसे गुरु की आवश्यकता है जो उसके बुद्धि-नेत्र को स्थिर कर उसे यह देखने मे मदद पहुंचाये कि उपस्थित विघ्न का असली कारण क्या है ? जहां तक बुद्धिमानों ने विचार किया है यही पता चला है कि ऐसा गुरु, कर्म का सिद्धान्त ही है । मनुष्य को यह विश्वात करना चाहिये कि चाहे मैं जान सकूं या नही, लेकिन मेरे विघ्न का भीतरी व असली कारण मुझमें ही होना चाहिये ।

कि फल देने के लिये ईश्वर रूप चेतन की प्रेरणा मानने की कोई जरूरत नही। क्योंकि सभी जीव चेतन है। वे जैसा कर्म करते है उसके अनुसार उनकी बुद्धि वैसी ही बन जाती है, जिससे बुरे कर्म के फल की इच्छा न रहने पर भी वे ऐसा कृत्य कर बैठते है कि जिससे उनको अपने कर्मानुसार फल मिल जाता है। कर्म करना एक बात है और फल को न चाहना दूसरी बात। केवल चाहना न होने से ही किये कर्म का फल मिलने से रुक नही सकता सामग्री इकट्ठी हो गई, फिर कार्य आप ही आप होने लगता है। उदाहरणार्थ—एक मनुष्य धूप में खड़ा है, गर्म चीज खाता है और चाहता है कि प्यास न लगे, सो क्या किसी तरह प्यास रुक सकती है ? ईश्वर कर्तृत्व-वादी कहते है कि ईश्वर की ईच्छा से प्रेरित होकर कर्म अपना अपना फल प्राणियों पर प्रकट करते है। इस पर कर्म-वादी कहते है कि कर्म करने के समय परिणामानुसार जीव मे ऐसे सस्कार पड़ जाते है कि जिनसे प्रेरित होकर कर्त्ता जीव कर्म के फल को आप ही भोगते है और कर्म उन पर अपने फल को आप ही प्रकट करते है।

तीसरे आपेक्ष का समाधान—ईश्वर चेतन है और जीव भी चेतन, फिर उनमें अन्तर ही क्या है ? हां अन्तर इतना हो सकता है कि जीव की सभी शक्तियां आवरणों से घिरी हुई है और ईश्वर की नही। पर जिस समय जीव अपने आव-रणों को हटा देता है, उस समय तो उसकी सभी शक्तियां पूर्ण रूप मे प्रकाशित हो जानी है। फिर जीव और ईश्वर में विषमता किस वात की ? विपमता का कारण जो औपाधिक कर्म है, उसके हट जाने पर भो यदि विपमता वनी रही तो फिर मुक्ति ही क्या है ? विपमता का राज्य संसार तक ही परिमित है, आगे

नही । इसलिये कर्मवाद के अनुसार यह मानने में कोई आपत्ति नही कि सभी मुक्त जीव ईश्वर ही है। केवल विश्वास के बल पर यह कहना कि ईश्वर एक ही होना चाहिये, उचित नहीं। सभी आत्मा तात्विक दृष्टि से ईश्वर ही है। केवल बन्धन के कारण वे छोटे-मोटे जीव रूप में देखे जाते है, यह सिद्धांत सभी को अपना ईश्वरत्व प्रकट करने के लिये पूर्ण बल देता है।

व्यवहार और परमार्थ में कर्मवाद की उपयोगिता

इस लोक से या परलोक से सम्बन्ध रखने वाले किसी काम मे जब मनुष्य प्रवृत्ति करता है तब यह तो असम्भव ही है कि उसे किसी न किसी विघ्न का सामना करना न पड़े। सब कामों में सबको थोड़े बहुत प्रमाण मे शारीरिक या मानसिक विघ्न आते ही है। ऐसी दशा में देखा जाता है कि बहुत लोग चचल हो जाते है। घबड़ाकर दूसरों को दूषित ठहराकर उन्हें कोसते है। इस तरह विपत्ति के समय एक तरफ बाहरी दुश्मन बढ़ जाते है; दूसरी तरफ बुद्धि अस्थिर होने से अपनी भूल दिखाई नही देती। अन्त में मनुष्य व्यग्रता के कारण अपने आरम्भ किये हुये सब कामों को छोड़ बैठता है और प्रयत्न तथा शक्ति के साथ न्याय का भी गला घोटता है। इसलिये उस समय उस मनुष्य के लिये एक ऐसे गुरु की आवश्यकता है जो उसके बुद्धि-नेत्र को स्थिर कर उसे यह देखने में मदद पहुंचाये कि उपस्थित विघ्न का असली कारण क्या है? जहां तक बुद्धिमानों ने विचार किया है यही पता चला है कि ऐसा गुरु, कर्म का सिद्धान्त ही है। मनुष्य को यह विश्वास करना चाहिये कि चाहे मैं जान सकूं या नहीं, लेकिन मेरे विघ्न का भीतरी व असली कारण मुझमें ही होना चाहिये।

जिस हृदय-भूमिका पर विघ्न विष-वृक्ष उगता है, उसका बीज भी उसी भूमिका में बोया हुआ होना चाहिये। पवन, पानी आदि बाहरी निमित्तों के समान उस विघ्न-विष वृक्ष को अंकुरित होने में कदाचित् अन्य कोई व्यक्ति निमित्त हो सकता है, पर वह विघ्न का बीज नहीं—ऐसा विश्वास मनुष्य के बुद्धि नेत्र को स्थिर कर देता है। जिससे वह अड़चन के असली कारण को अपने में देख, न तो उसके लिये दूसरे को कोसता है और न घबड़ाता है। ऐसे विश्वास से मनुष्य के हृदय में इतना बल प्रकट होता है कि जिससे साधारण सकट के समय विक्षिप्त होने वाला वह वड़ी विपत्तियों को कुछ नहीं समझता और अपसे व्यावहारिक या पारमार्थिक काम को पूरा ही कर डालता है।

मनुष्य को किसी भी काम की सफलता के लिये परिपूर्ण हार्दिक शान्ति प्राप्त करनी चाहिये, जो एक मात्र कर्म के सिद्धांत से ही हो सकती है। आंधी और तूफान मे जैसे हिमालय का शिखर स्थिर रहता है, वैसे ही अनेक प्रतिकूलताओं के समय शान्त भाव में स्थिर रहना, यही सच्चा मनुष्यत्व है, जो कि भूतकाल के अनुभवो से शिक्षा देकर मनुष्य को अपनी भावी भलाई के लिये तैयार करता है। परन्तु यह निश्चित है कि ऐसा मनुष्यत्व कर्म के सिद्धान्त पर विश्वास किये बिना कभी आ नहीं सकता। इससे यही कहना पड़ता है कि क्या व्यवहार, क्या परमार्थ, सव जगह कर्म का सिद्धान्त एक-सा उपयोगी है। कर्म के सिध्दान्त की श्रेष्ठता के सम्वन्ध में डा मेक्समूलर का जो विचार है, वह जानने योग्य है। वे कहते है:—

"यह तो निश्चित है कि कर्म मत का असर मनुष्य-जीवन पर बेहद हुआ है। यदि किसी मनुष्य को यह मालूम पड़े कि

वर्तमान अपराध के बिना भी मुझको जो कुछ भोगना पड़ता है वह मेरे पूर्व जन्म के कर्म का ही फल है तो वह पुराने कर्ज को चुकाने वाले मनुष्य की तरह शान्त भाव से उस कष्ट को सहन कर लेगा। और वह मनुष्य इतना भी जानता हो कि सहनशीलता से पुराना कर्ज चुकाया जा सकता है तथा उसी से भविष्यत् के लिये नीति की समृध्दि इकट्ठी की जा सकती है जो उसको भलाई के रास्ते पर चलने की प्रेरणा आप ही आप होगी। अच्छा या बुरा कोई भी कर्म नष्ट नही होता, यह नीतिशास्त्र का मत और पदार्थ शास्त्र का बल-सरक्षण सम्बन्धी मत समान ही है। दोनों मतों का आशय इतना ही है कि किसी का नाश नहीं होता। किसी भी नीति शिक्षा के अस्तित्व के संबंध में कितनी ही शङ्का क्यों न हो, पर यह निर्विवाद सिध्द है कि कर्ममत सबसे अधिक जगह माना गया है, उससे लाखों मनुष्यों के कष्ट कम हुये है और उसी मत से मनुष्यों को वर्तमान संकट झेलने की शक्ति पैदा करने तथा भविष्यत् जीवन-को सुधार ने में उत्तेजन मिला है।"

कर्मवाद के समुत्थान का काल और उसका साध्य

कर्मवाद के विषय में दो प्रश्न उठते है—१. कर्म-वाद का आविर्भाव कब हुआ ? २. वह क्यों ? पहले प्रश्न का उत्तर दो दृष्टिओं से दिया जा सकता है। १. परम्परा और २. ऐतिहासिक दृष्टि से:—

१—परम्परा के अनुसार यह कहा जाता है कि जैन धर्म और कर्मवाद का आपस में सूर्य और किरण का सा मेल है। किसी समय, किसी देश विशेष में जैन धर्म का अभाव भले ही देख पड़े; लेकिन उसका अभाव सब जगह एक साथ

नही होता। अतएव सिद्ध है कि कर्मवाद भी प्रवाह-रूप से जैन धर्म के साथ साथ अनादि है, अर्थात् वह अभूतपूर्व नहीं है।

२—परन्तु जैनेतर जिज्ञासु और इतिहास-प्रेमी जैन, उक्त परम्परा को विना ननुनच किये मानने के लिये तैयार नही। साथ ही वे लोग ऐतिहासिक प्रमाण के आधार पर दिये गये उत्तर को मान लेने में तनिक भी नही सकुचाते। यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि इस समय जो जैन धर्म श्वेताम्वर या दिगम्बर शाखारूप से वर्तमान है, इस समय जितना जैन-तत्त्व-ज्ञान है और जो विशिष्ट परम्परा है, वह सब भगवान् महावीर के विचार का चित्र है। समय के प्रभाव से मूल वस्तु में कुछ न कुछ परिवर्तन होता रहता है, तथापि धारणशील और रक्षण-शील जैन समाज के लिए इतना नि.सकोच कहा जा सकता है कि उसने तत्त्व-ज्ञान के प्रदेश में भगवान् महावीर के उपदिष्ट तत्त्वों से न तो अधिक गवेषणा की है और न ऐसा सम्भव ही था। परिस्थिति के वदल जाने से चाहे शास्त्रीय भाषा और प्रतिपादन शैली, मूल प्रवर्तक की भाषा और शैली से कुछ बदल गई हो; परन्तु इतना सुनिश्चित है कि मूल तत्त्वों में और तत्त्व-व्वस्था में कुछ भी अन्तर नही पड़ा। अतएव जैन-शास्त्र के नयवाद, निक्षेपवाद, स्याद्वाद आदि अन्य वादों के समान कर्मवाद का आविर्भाव भी भगवान् महावीर से हुआ है, यह मानने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं की जा सकती। वर्तमान जैन-आगम, किस समय और किसने रचे, यह प्रश्न ऐतिहासिकों की दृष्टि से भले ही विवादास्पद हो; लकिन उनको भी इतना तो अवश्य मान्य है कि वर्तमान जैन-आगम के सभी विशिष्ट और मुख्यवाद, भगवान् महावीर के विचार की विभूति है। कर्मवाद, यह जैनों का असाधारण व

मुख्यवाद है, इसलिये उसके भगवान् महावीर से आविर्भूत होने के विषय में किसी प्रकार का सन्देह नही किया जा सकता। भगवान् महावीर को निर्वाण प्राप्त हुए २४९९ वर्ष बीते। अतएव वर्तमान कर्मवाद के विषय मे यह कहना कि इसे उत्पन्न हुए ढाई हजार वर्ष हुए, सर्वथा प्रामाणिक है। भगवान् महावीर के शासन के साथ कर्मवाद का ऐसा सम्बन्ध है कि यदि वह उससे अलग कर दिया जाय तो उस शासन में शासनत्व (विशेषत्व) ही नही रहता, इस बात को जैन धर्म-का सूक्ष्म अवलोकन करने वाले सभी ऐतिहासिक भली-भाति जानते है।

इस जगह यह कहा जा सकता है कि 'भगवान् महावीर-के समान, उनसे पूर्व, भगवान् पार्श्वनाथ, नेमिनाथ आदि हो गये है। वे भी जैन धर्म के स्वतन्त्र प्रवर्तक थे, और सभी ऐतिहासिक उन्हे जैन धर्म के धुरन्धर नायकरूप से स्वीकार भी करते है। फिर कर्मवाद के आविर्भाव के समय को उक्त समय-प्रमाण से बढाने मे क्या आपत्ति है?' परन्तु इस पर कहना यह है कि कर्मवाद के उत्थान के समय के विषय मे जो कुछ कहा जाय वह ऐसा हो कि जिसके मानने में किसी को किसी प्रकार की आनाकानी न हो। यह बात भूलनी न चाहिए कि भगवान् नेमिनाथ तथा पार्श्वनाथ आदि जैन धर्म के मुख्य प्रवर्तक हुए और उन्होंने जैन शासन को प्रवर्तित भी किया; परन्तु वर्तमान जैन-आगम, जिन पर इस समय जैन शासन अवलम्बित है, वे उनके उपदेश की सम्पत्ति नही। इसलिए कर्मवाद के समुत्थान का ऊपर जो समय दिया गया है, उसे अबाधित समझना चाहिए।

दूसरा प्रश्न यह है कि कर्मवाद का आविर्भाव किस प्रयोजन से हुआ? इसके उत्तर में तीन प्रयोजन ...

बतलाये जा सकते हैः—१. वैदिक धर्म की ईश्वर-सम्बन्धिनी मान्यता में जितना अश भ्रान्त था, उसे दूर करना। २. बौद्ध-धर्म के एकान्त क्षणिकवाद को अयुक्त बतलाना। ३. आत्मा को जड़ तत्त्वों से भिन्न—स्वतंत्र तत्त्व स्थापित करना।

इसके विशेष खुलासे के लिए यह जानना चाहिये कि आर्यावर्त्त में भगवान् महावीर के समय कौन कौन धर्म थे और उनका मन्तव्य क्या था ?

१ इतिहास बतलाता है कि उस समय भारत वर्ष में जैन के अतिरिक्त वैदिक और बौद्ध दो ही धर्म मुख्य थे, परन्तु दोनों के सिद्धान्त मुख्य-मुख्य विषयो मे बिलकुल जुदे थे। मूल * वेदों में, उपनिषदों * में, स्मृतियों * में और वेदानुयायी कतिपय दर्शनों में ईश्वर विषयक ऐसी कल्पना थी कि जिससे सर्व साधारण का यह विश्वास हो गया था कि जगत् का उत्पादक ईश्वर ही है, वही अच्छे या बुरे कर्मो का फल जीवों से

* सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्।
दिव च पृथिवी चान्तरिक्षमथो स्व ॥—ऋ. म. १०, सू. १९, म ३

* यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति।—तैति. ३-१.

* आसीदिद तमोऽभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेय प्रसुप्तमिव सर्व्वत। १-५ ॥
ततस्स्वयंभूर्भगवानऽव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादिवृतौजा. प्रादुरासीत्तमोनुद. ॥ १-६ ॥
सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात् सिसृक्षुर्विविधा प्रजा।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥ १-८ ॥
तदण्डमभवद्धैम सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिञ्जज्ञे स्वय ब्रह्मा सर्व्वलोकपितामहः ॥१-९॥—मनुस्मृति

भोगवाता है; कर्म जड़ होने से ईश्वर की प्रेरणा के विना अपना फल भोगवा नहीं सकते; चाहे कितनी ही उच्च कोटि का जीव हो, परन्तु वह अपना विकास करके ईश्वर हो नही सकता; अन्त में जीव, जीव ही है, ईश्वर नहीं और ईश्वर के अनुग्रह के सिवाय संसार से निस्तार भी नहीं हो सकता, इत्यादि।

इस प्रकार के विश्वास में भगवान् महीवार को तीन भूले जान पड़ी:—(अ) कृतकृत्य ईश्वर का बिना प्रयोजन सृष्टि में हस्तक्षेप करना, (ब) आत्मस्वातंत्र्य का दब जाना और (द) कर्म की शक्ति का अज्ञान।

इन भूलों को दूर करने के लिए व यथार्थ वस्तुस्थिति जानने के लिए भगवान् महावीर ने बड़ी शान्ति व गम्भीरता पूर्वक कर्मवाद का उपदेश दिया।

२—यद्यपि उस समय बौद्ध धर्म भी प्रचलित था, परन्तु उसमें जैसे ईश्वर कर्तृत्व का निषेध न था वैसे स्वीकार भी न था। इस विषय में बुद्ध एक प्रकार से उदासीन थे। उनका उद्देश्य मुख्यतया हिसा को रोक, समभाव फैलाने का था।

उनकी तत्त्व-प्रतिपादन सरणी भी तत्कालीन उस उद्देश्य के अनुरूप ही थी। बुद्ध भगवान् स्वयं, * कर्म और उसका * विपाक मानते थे, लेकिन उनके सिद्धान्त मे क्षणिकवाद को स्थान था। इसलिये भगवान् महावीर के कर्मवाद के उपदेश

* कम्मना वत्तती लोको कम्मना वत्तती पजा।
कम्मनिबंधना सत्ता रथस्साणीव यायतो॥—सुत्तनिपात, वासेठसुत्त, ६१

* यं कम्म करिस्सामि कल्याणं वा पापकं वा तस्स दायाद्दो भविस्सामि।
—अंगुत्तर-निकाय।

का एक यह भी गूढ़ साध्य था कि "यदि आत्मा को क्षणिक मात्र मान लिया जाय तो कर्म-विपाक की किसी तरह उपपत्ति हो नही सकती। स्वकृत कर्म का भोग और परकृत कर्म के भोग का अभाव तभी घट सकता है, जब कि आत्मा को न तो एकान्त नित्य माना जाय और न एकान्त क्षणिक।"

३—आज कल की तरह उस समय भी भूतात्मवादी मौजूद थे। वे भौतिक देह नष्ट होने के वाद कृतकर्म-भोगी पुनर्जन्मवान् किसी स्थायी तत्त्व को नही मानते थे। यह दृष्टि भगवान् महावीर की बहुत संकुचित जान पड़ी। इसी से उसका निराकरण उन्होंने कर्मवाद द्वारा किया।

कर्मशास्त्र का परिचय

यद्यपि वैदिक साहित्य तथा वौद्ध साहित्य में कर्म सम्वन्धी विचार है, पर वह इतना अल्प है कि उसका कोई खास ग्रन्थ उस साहित्य में दृष्टिगोचर नही होता। इसके विपरीत जैनदर्शन मे कर्म-सम्वन्धी विचार सूक्ष्म, व्यवस्थित और अति-विस्तृत है। अतएव उन विचारों का प्रतिपादक शास्त्र, जिसे 'कर्मशास्त्र' या 'कर्म-विषयक साहित्य' कहते है, उसने जैन-साहित्य के वहुत बड़े भाग को रोक रक्खा है। कर्म-शास्त्र को जैन-साहित्य का हृदय कहना चाहिये। यों तो अन्य विषयक जैन-ग्रन्थों में भी कर्म की थोड़ी वहुत चर्चा पाई जाती है, पर उसके स्वतन्त्र ग्रन्थ भी अनेक है। भगवान् महावीर ने कर्म-वाद का उपदेश दिया। उसकी परम्परा अभी तक चली आती है, लेकिन **सम्प्रदाय भेद, संकलना** और **भाषा की दृष्टि** से उसमें कुछ परिवर्तन अवश्य हो गया है।

१. **सम्प्रदाय-भेद**—भगवान् महावीर का शासन, श्वेता-

म्बर दिगम्बर दो शाखाओं में विभक्त हुआ। उस समय कर्म-शास्त्र भी विभाजित-सा हो गया। सम्प्रदाय भेद की नीव, ऐसे वज्र-लेप भेद पर पड़ी है कि जिससे अपने पितामह भगवान् महावीर के उपदिष्ट कर्म-तत्त्व पर, मिलकर विचार करने-का पुण्य अवसर, दोनों सम्प्रदाय के विद्वानों को कभी प्राप्त नही हुआ। इसका फल यह हुआ कि मूल विषय में कुछ मतभेद न होने पर भी कुछ पारिभाषिक शद्बो मे, उनकी व्याख्याओं मे और कही कहो तात्पर्य में थोड़ा बहुत भेद हो गया, जिसका कुछ नमूना पाठक परिशिष्ट में देख सकेगे —

२. **संकलना**—भगवान् महावीर से अब तक में कर्म-शास्त्र की जो उत्तरोत्तर सकलना होती आई है, उसके स्थूल दृष्टि से तीन विभाग वतलाये जा सकते है।

(क). **पूर्वात्मक कर्मशास्त्र**—यह भाग सबमें बड़ा और सबसे पहला है। क्योंकि इसका अस्तित्व तब्र तक माना जाता है, जब तक कि पुर्व-विद्या विच्छिन्न नही हुई थी। भगवान् महावीर के बाद करीव ९०० या १००० वर्ष तक क्रम ह्रास-रूप से पूर्व विद्या वर्तमान रही। चौदह मे से आठवां पूर्व, जिसका नाम **'कर्मप्रवाद'** है वह तो मुख्यतया कर्म-विषयक ही था, परन्तु इसके अतिरिक्त दूसरा पूर्व, जिसका नाम **'अग्रायणीय'** है, उसमें भी कर्म तत्त्व के विचार का एक **'कर्मप्राभृत'** नामक भाग था। इस समय श्वेताम्बर या दिगम्बर के साहित्य में पूर्वात्मक कर्मशास्त्र का मूल अंश वर्तमान नही है।

(ख) **पूर्व से उद्धृत यानी आकाररूप कर्मशास्त्र**—यह विभाग, पहले विभाग से वहुत छोटा है, तथापि वर्तमान अभ्यासियों के लिये वह इतना बड़ा है कि उसे आकार कर्म-शास्त्र कहना पड़ता है। यह भाग साक्षात् पूर्व से उद्धृत है,

ऐसा उल्लेख श्वेताम्बर, दिगम्बर दोनों के ग्रन्थों में पाया जाता है। पूर्व में से उद्धृत किये गये कर्मशास्त्र का अंश, दोनों सम्प्रदाय में अभी वर्तमान है। उद्धार के समय सम्प्रदाय भेद रूढ़ हो जाने के कारण उद्धृत अंश, दोनों सम्प्रदायों में कुछ भिन्न-भिन्न नाम से प्रसिद्ध है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे १ कर्म प्रकृति, २ शतक, ३ पचसंग्रह और ४ सप्ततिका, ये चार ग्रन्थ और दिगम्बर सम्प्रदाय मे १ महाकर्मप्रकृतिप्राभृत तथा २ कषायप्राभृत, ये दो ग्रन्थ पूर्वोद्धृत माने जाते है।

(ग) **प्राकरणिक कर्मशास्त्र**—यह विभाग, तीसरी सकलना का फल है। इसमे कर्म-विषयक छोटे-बड़े अनेक प्रकरण ग्रन्थ सम्मिलित है। इन्ही प्रकरण ग्रन्थो का अध्ययन-अध्यापन इस समय विशेषतया प्रचलित है। इन प्रकरणो के पढने के वाद मेधावी अभ्यासी 'आकार ग्रन्थो' को पढते है। 'आकार ग्रन्थों' में प्रवेश करने के लिए पहले प्राकरणिक कर्मशास्त्र का अवलोकन करना जरूरी है। यह प्राकरणिक कर्मशास्त्र का विभाग, विक्रम की आठवी-नववी शताब्दी से लेकर सोलहवी-सत्रहवी शताब्दी तक में निर्मित व पल्लवित हुआ है।

३. **भाषा**—भाषा-दृष्टि से कर्मशास्त्र को तीन हिस्सों मे विभाजित कर सकते है। क–प्राकृत भाषा मे, ख–संस्कृत भाषा मे और ग–प्रचलित प्रादेशिक भाषा मे।

(क) **प्राकृत**—पूर्वात्मक और पूर्वोद्धृत कर्मशास्त्र इसी भाषा में बने है। प्राकरणिक कर्मशास्त्र का भी वहुत वडा भाग प्राकृत भाषा में ही रचा हुआ मिलता है। मूल ग्रन्थो के अतिरिक्त उनके ऊपर टीका-टिप्पणी भी प्राकृत भाषा में है।

(ख) **संस्कृत**—पुराने समय में जो कर्मशास्त्र वना है वह सब प्राकृत में ही है, किन्तु पीछे से संस्कृत भाषा में भी कर्म

शास्त्र की रचना होने लगी। बहुत कर संस्कृत भाषा में कर्म-शास्त्र पर टीका-टिप्पणी आदि ही लिखे गये है, पर कुछ मूल प्राकरणिक कर्मशास्त्र दोनों सम्प्रदायों में ऐसे भी है, जो संस्कृत भाषा में रचे हुए है।

(ग) प्रचलित प्रादेशिक भाषाएं—इनमें मुख्यतया कर्णाटकी, गुजराती और हिन्दी, तीन भाषाओं का समावेश है। इन भाषाओं में मौलिक ग्रन्थ नाम मात्र के है। इनका उपयोग, मुख्यतया मूल तथा टीका के अनुवाद करने मे ही किया गया है। विशेषकर इन प्रादेशिक भाषाओं में वही टीका-टिप्पण आदि है, जो प्राकरणिक कर्मशास्त्र-विभाग पर लिखे हुए है। कर्णाटकी और हिन्दी भाषा का आश्रय दिगम्बर साहित्य ने लिया है और गुजराती भाषा, श्वेताम्बरीय साहित्य में उपयुक्त हुई है।

कर्मशास्त्र में शरीर, भाषा इन्द्रियादि पर विचार

शरीर जिन तत्त्वों से बनता है वे तत्त्व, शरीर के सूक्ष्म स्थूल आदि प्रकार, उसकी रचना, उसका वृद्धि-क्रम, ह्रास-क्रम आदि अनेक अंशों को लेकर शरीर का विचार, शरीर-शास्त्र मे किया जाता है। इसी से उस शास्त्र का वास्तविक गौरव है। वह गौरव कर्मशास्त्र को भी प्राप्त है। क्योंकि उनमें भी प्रसगवश ऐसी अनेक बातों का वर्णन किया गया है, जो कि शरीर से सम्बन्ध रखती है। शरीर-सम्बन्धिनी ये बातें पुरातन पद्धति से कही हुई है सही, परन्तु इससे उनका महत्त्व कम नहीं। क्योंकि सभी वर्णन सदा नये नही रहते। आज जो विषय नया दिखाई देता है, वही थोड़े दिनों के बाद पुराना हो जायगा। वस्तुतः काल के बीतने से किसी में पुरानापन नहीं

आता। पुरानापन आता है उसका विचार न करने से। सामयिक पद्धति से विचार करने पर पुरातन शोधों मे भी नवीनता-सी आ जाती है। इसलिए अतिपुरातन कर्मशास्त्र में भी शरीर की बनावट, उसके प्रकार, उसकी मजबूती और उसके कारण भूत तत्त्वों पर जो कुछ थोड़े बहुत विचार पाये जाते है, वह उस शास्त्र की यथार्थ महत्ता का चिह्न है।

इसी प्रकार कर्म शास्त्र में भाषा के सम्बन्ध मे तथा इन्द्रियों के सबध में भी मनोरंजक व विचारणीय चर्चा मिलती है। भाषा किस तत्त्व से बनती है? उसके बनने में कितना समय लगता है? उसकी रचना के लिये अपनी वीर्य्य-शक्ति का प्रयोग आत्मा किस तरह और किस साधन के द्वारा करता है? भाषा की सत्यता-असत्यता का आधार क्या है? कौन-कौन प्राणी भाषा बोल सकते है? किस किस जाति के प्राणी में, किस किस प्रकार की भाषा बोलने की शक्ति है? इत्यादि अनेक प्रश्न, भाषा से सम्बन्ध रखते है। उनका महत्त्वपूर्ण व गम्भीर विचार, कर्म शास्त्र में विशद रीति से किया हुआ मिलता है।

इसी प्रकार इन्द्रिया कितनी है। कैसी है? उनके कैसे कैसे भेद तथा कैसी कैसी शक्तियां है? किस किस प्राणी को कितनी कितनी इन्द्रियां प्राप्त है? बाह्य और आभ्यन्तरिक इन्द्रियों का आपस में क्या सम्वन्ध है? उनका कैसा-कैसा आकार है? इत्यादि अनेक प्रकार के इन्द्रियों से सम्वन्ध रखने वाले विचार, कर्मशास्त्र में पाये जाते है।

यह ठीक है कि ये सव विचार उसमें संकलना-वद्ध नही मिलते, परन्तु ध्यान में रहे कि उस शास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य अश और ही है। उसी के वर्णन मे शरीर, भाषा, इन्द्रिय आदि का विचार प्रसंगवश करना पड़ता है। इसलिए जैसी संकलना

चाहिये वैसी न भी हो, तथापि इससे कर्मशास्त्र की कुछ त्रुटि सिद्ध नही होती; बल्कि उसकी तो अनेक शास्त्रों के विषयों की चर्चा करने का गौरव ही प्राप्त है।

कर्मशास्त्र का अध्यात्मशास्त्रपन

अध्यात्म-शास्त्र का उद्देश्य, आत्मा-सम्बन्धी विषयों पर विचार करना है। अतएव उसके आत्मा के पारमार्थिक स्वरूप का निरूपण करने के पहले उसके व्यावहारिक स्वरूप का भी कथन करना पडता है। ऐसा न करने से यह प्रश्न सहज में ही उठता है कि मनुष्य, पशु-पक्षी, सुखी-दुःखी आदि आत्मा की दृश्यमान अवस्थाओं का स्वरूप, ठीक ठीक जाने बिना उसके पार का स्वरूप जानने की योग्यता, दृष्टि को कैसे प्राप्त हो सकती है? इसके सिवाय यह भी प्रश्न होता है कि दृश्यमान वर्तमान अवस्थाये ही आत्मा का स्वभाव क्यों नही है। इसलिये अध्यात्म-शास्त्र को आवश्यक है कि वह पहले, आत्मा के दृश्यमान स्वरूप की उपपत्ति दिखाकर आगे बढे। यही काम कर्मशास्त्र ने किया है। वह दृश्यमान सब अवस्थाओं को कर्म-जन्य बतला कर उनसे आत्मा के स्वभाव की जुदाई की सूचना करता है। इस दृष्टि से कर्मशास्त्र, अध्यात्म-शास्त्र का ही एक अश है। यदि अध्यात्म-शास्त्र का उद्देश्य, आत्मा के शुद्ध स्वरूप का वर्णन करना ही माना जाय तब भी कर्म शास्त्र को उसका प्रथम सोपान मानना ही पड़ता है। इसका कारण यह है कि जब तक अनुभव में आने वाली वर्तमान अवस्थाओं के साथ आत्मा के सम्बन्ध का सच्चा खुलासा न हो तब तक दृष्टि, आगे कैसे बढ़ सकती है? जब यह ज्ञात हो जाता है कि ऊपर के सब रूप, मायिक या वैभाविक हैं तब स्वाभाव

जिज्ञासा होती है कि आत्मा का सच्चा स्वरूप क्या है? उसी समय आत्मा के केवल शुद्ध स्वरूप का प्रतिपादन सार्थक होता है। परमात्मा के साथ आत्मा का सम्बन्ध दिखाना यह भी आध्यात्मशास्त्र का विषय है। इस सम्बन्ध में उपनिषदों में या गीता मे जैसे विचार पाये जाते है वैसे ही कर्मशास्त्र में भी। कर्मशास्त्र कहता है कि आत्मा वही परमात्मा—जीव ही ईश्वर है। आत्मा का परमात्मा में मिल जाना, इसका मतलब यह है कि आत्मा का अपने कर्मावृत परमात्म भाव को व्यक्त करके परमात्म रूप हो जाना। जीव परमात्मा का अंश है, इसका मतलब कर्मशास्त्र की दृष्टि से यह है कि जीव मे जितनी ज्ञान-कला व्यक्त है, वह परिपूर्ण, परन्तु अव्यक्त (आवृत) चेतना-चन्द्रिका का एक अंश मात्र है। कर्म का आवरण हट जाने से चेतना परिपूर्ण रूप में प्रकट होती है। उसी को ईश्वरभाव या ईश्वरत्व की प्राप्ति समझना चाहिये।

धन, शरीर आदि बाह्य विभूतियों मे आत्म-बुद्धि करना, अर्थात् जड में अहंत्व करना, बाह्य दृष्टि है। इस अभेद-भ्रम को बहिरात्म भाव सिद्ध करके उसे छोड़ने की शिक्षा, कर्म-शास्त्र देता है। जिनके संस्कार केवल बहिरात्मभावमय हो गये हैं, उन्हे कर्म-शास्त्र का उपदेश भले ही रुचिकर न हो, परन्तु इससे उसकी सच्चाई में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ सकता।

शरीर और आत्मा के अभेद भ्रम को दूर कराकर, उसके भेद-ज्ञान को (विवेक-ख्याति को) कर्म-शास्त्र प्रकटाता है। इसी समय से अन्तर्दृष्टि खुलती है। अन्तर्दृष्टि के द्वारा अपने मे वर्तमान परमात्म-भाव देखा जाता है। परमात्म-भाव को देखकर उसे पूर्णतया अनुभव में लाना, यह जीव का शिव (ब्रह्म) होना है। इसी ब्रह्म-भाव को व्यक्त कराने का काम कुछ और

ढंग से ही कर्म-शास्त्र ने अपने ऊपर ले रक्खा है। क्योंकि वह अभेद-भ्रम से भेद ज्ञान की तरफ झुकाकर, फिर स्वभाविक अभेदध्यान की उच्च भूमिका की ओर आत्मा को खींचता है। बस उसका कर्तव्य-क्षेत्र उतना ही है। साथ ही योग-शास्त्र के मुख्य प्रतिपाद्य अंग का वर्णन भी उसमें मिल जाता है। इसलिये यह स्पष्ट है कि कर्म-शास्त्र, अनेक प्रकार के आध्यात्मिक शास्त्रीय विचारों की खान है। वही उसका महत्त्व है। बहुत लोगों को प्रकृतियों की गिनती, संख्या की बहुलता आदि से उस पर रुचि नही होती, परन्तु इसमें कर्मशास्त्र का क्या दोष? गणित, पदार्थ विज्ञान आदि गूढ़ व रस-पूर्ण विषयों पर स्थूलदर्शी लोगों की दृष्टि नहीं जमती और उन्हें रस नहीं आता, इसमें उन विषयो का क्या दोष? दोष है समझने वालों की बुद्धिका। किसी भी विषय के अभ्यासी को उस विषय में रस तभी आता है जब कि वह उसमें तल-तक उतर जाय।

विषय-प्रवेश—कर्म-शास्त्र जानने की चाह रखने वालों को आवश्यक है कि वे 'कर्म' शद्व का अर्थ, भिन्न-भिन्न शास्त्रों मे प्रयोग किये गये उसके पर्याय शद्व, कर्म का स्वरूप, आदि निम्न विषयों से परिचित हो जांय तथा आत्म तत्त्व स्वतन्त्र तत्त्व है, यह भी जान ले।

कर्म शद्व के अर्थ—'कर्म' शद्व लोक-व्यवहार और शास्त्र दोनों में प्रसिद्ध है। उसके अनेक अर्थ होते है। साधारण लोग अपने व्यवहार में काम धंधे या व्यवसाय के मतलब से 'कर्म' शद्व का प्रयोग करते हैं। शास्त्र में उसकी एक गति नहीं है। खाना, पीना, चलना, कांपना आदि किसी भी हल-चल के लिये, चाहे वह जीव की हो या जड़ की, कर्म शद्व का प्रयोग किया जाता है।

कर्मकाण्डी मीमांसक, यज्ञ, योग-आदि क्रिया-कलाप अर्थ में; स्मार्त विद्वान्, ब्राह्मण आदि चार वर्णो और ब्रह्मचर्य आदि ४ आश्रमों के नियत कर्मरूप अर्थ में; पौराणिक लोग, व्रत नियम आदि धार्मिक क्रियाओं के अर्थ में; वैयाकरण लोग, कर्त्ता जिसको अपनी क्रिया के द्वारा पाना चाहता है उस अर्थ मे अर्थात् जिस पर कर्त्ता के व्यापार का फल गिरता है उस अर्थ मे; और नैयायिक लोग उत्क्षेपण आदि पांच साकेतिक कर्मो में कर्म शद्व का व्यवहार करते है। परन्तु जैन शास्त्र में कर्म शद्व से दो अर्थ लिये जाते हैं। पहला राग-द्वेषात्मक परिणाम, जिसे कषाय (भाव-कर्म) कहते हैं और दूसरा कार्मण जाति-के पुद्गल विशेष, जो कषाय के निमित्त से आत्मा के साथ चिपके हुये होते है और द्रव्यकर्म कहलाते है।

कर्म शद्व के कुछ पर्याय—जैन दर्शन मे जिस अर्थ के लिये कर्म शव्द प्रयुक्त होता है उस अर्थ के अथवा उससे कुछ मिलते जुलते अर्थ के लिये जैनेतर दर्शनों मे वे शव्द मिलते है—माया, अविद्या, प्रकृति, अपूर्व, वासना, आशय, धर्माधर्म, अदृष्ट, संस्कार, दैव, भाग्य आदि।

माया, अविद्या, प्रकृति ये तीन शव्द वेदान्त दर्शन में पाये जाते हैं। इनका मूल अर्थ करीव-करीव वही है, जिसे जैन-दर्शन में भाव कर्म कहते है। 'अपूर्व' शव्द मीमांसी दर्शन मे मिलता है। 'वासना' शव्द बौद्ध दर्शन में प्रसिद्ध है, परन्तु योग दर्शन में भी उसका प्रयोग किया जाता है। 'आशय' शव्द विशेषकर योग तथा सांख्य दर्शन में मिलता है। धर्माधर्म, अदृष्ट और संस्कार, इन शव्दों का प्रयोग और दर्शनों में भी पाया जाता है, परन्तु विशेषकर न्याय तथा वैशेपिक दर्शन में। दैव, भाग्य, पुण्य-पाप आदि कई ऐसे शव्द हैं, जो सव दर्शनों

के लिये साधारण से है। जितने दर्शन आत्मवादी है और पुनर्जन्म मानते है उनको पुनर्जन्म की सिद्धि–उपपत्ति के लिये कर्म मानना ही पड़ता है। चाहे उन दर्शनों की भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओं के कारण या चेतन के स्वरुप में मतभेद होने के कारण, कर्म का स्वरुप थोड़ा बहुत जुदा-जुदा जान पड़े; परन्तु इसमे कोई सन्देह नही कि सभी आत्मवादियों ने माया आदि उपयु`क्त किसी न कीसी नाम से कर्म को अंगीकार किया ही है।

कर्म का स्वरूप—मिथ्यात्व, कषाय आदि कारणों से जीव के द्वारा जो किया जाता है वही 'कर्म' कहलाता है। कर्म-का यह लक्षण उप्रयु`क्त भाव कर्म व द्रव्य कर्म दोनों में घटित होता है, क्योंकि भावकर्म आत्मा का और जीव का वैभाविक परिणाम है, इससे उसका उपादान रूप कर्त्ता, जीव ही है और द्रव्य कर्म, जो कि कार्मण जाति के सूक्ष्म पुद्गलों का विकार है उसका भी कर्त्ता, निमित्त रूप से जीव ही है। भाव कर्म के होने मे द्रव्यकर्म निमित्त है और द्रव्यकर्म मे भावकर्म निमित्त। इस प्रकार उन दोनों का आपस में बीजाङ्कुर की तरह कार्य-कारणभाव सम्बन्ध है।

पुण्य-पाप की कसौटी—साधारण लोग यह कहा करते हैं कि—'दान, पूजन, सेवा आदि क्रियाओं के करने से शुभ कर्म का (पुण्य का) बन्ध होता है और किसी को कष्ट पहुंचाने, इच्छा-विरुद्ध काम करने आदि से अशुभ कर्म का (पाप का) बन्ध होता है।' परन्तु पुण्य-पाप का निर्णय करने की मुख्य कसौटी यह नही है। क्योंकि किसी को कष्ट पहुंचाता हुआ और दूसरे की इच्छा-विरुद्ध काम करता हुआ भी मनुष्य, पुण्य उपार्जन कर सकता है। इसी तरह दान-पूजन आदि करने वाला भी पुण्य-उपार्जन न कर, कभी-कभी पाप बांध

लेता है। एक परोपकारी चिकित्सक, जब किसी पर शस्त्र-क्रिया करता है तब उस मरीज को कष्ट अवश्य होता है, हितैषी माता-पिता नासमझ लड़के को जब उसकी इच्छा के विरुद्ध पढाने के लिये यत्न करते हैं तब उस बालक को दुःख-सा मालूम पड़ता है; पर इतने से ही न तो वह चिकित्सक अनुचित काम करने वाला माना जाता है और न हितैषी माता-पिता ही दोषी समझे जाते है। इसके विपरीत जब कोई, भोले लोगों को ठगने के इरादे से या और किसी तुच्छ आशय से दान, पूजन आदि क्रियाओं को करता है तब वह पुण्य के बदले पाप बांधता है। अतएव पुण्य-बन्ध या पाप-बन्ध की सच्ची कसौटी केवल ऊपर ऊपर की क्रिया नहीं है, किन्तु उसकी यथार्थ कसौटी कर्त्ता का आशय ही है। अच्छे आशय से जो काम किया जाता है वह पुण्य का निमित्त और बुरे अभिप्राय से जो काम किया जाता है वह पाप का निमित्त होता है। यह पुण्य-पाप की कसौटी सब को एक सी सम्मत है; क्योंकि यह सिद्धान्त सर्व मान्य है कि—

"यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी।"

सच्ची-निर्लेपता—साधारण लोग यह समझ बैठते है कि अमुक काम न करने से अपने को पुण्य-पाप का लेप न लगेगा। इससे वे उस को तो छोड़ देते है, पर बहुधा उनकी मानसिक क्रिया नहीं छूटती। इससे वे इच्छा रहने पर भी पुण्य-पाप के लेप से अपने को मुक्त नही कर सकते। अतएव विचारना चाहिए कि सच्ची निर्लेपता क्या है? लेप (बन्ध), मानसिक क्षोभ को अर्थात् कषाय को कहते है। यदि कषाय नहीं है तो ऊपर की कोई भी क्रिया आत्मा को बन्धन में रखने के लिए समर्थ नहीं है। इससे उलटा यदि कषाय का वेग भीतर वर्तमान है तो

ऊपर से हजार यत्न करने पर भी कोई अपने को बन्धन से छुड़ा नहीं सकता। कषाय-रहित वीतराग सब जगह जल में कमल की तरह निर्लेप रहते है, पर कषाय वान् आत्मा योग का स्वांग रचकर भी तिलभर शुद्धि नही कर सकता। इसी से यह कहा जाता है कि आसक्ति छोडकर जो काम किया जाता है वह वन्धक नही होता। मतलव सच्ची निर्लेपता मानसिक क्षोभ के त्याग मे है। यही शिक्षा कर्म-शास्त्र से मिलती है, और यही वात अन्यत्र भी कही हुई है —

मन एव मनुष्याणां कारण बन्धमोक्षयो'।
बन्धाय विषयाऽऽसगि मोक्षे निर्विषयं स्मृतम् ॥—मैत्र्युपनिषद्

कर्म का अनादित्व—विचारवान् मनुष्य के दिल में प्रश्न होता है कि कर्म सादि है या अनादि? इसके उत्तर में जैन दर्शन का कहना है कि कर्म, व्यक्ति की अपेक्षा से सादि और प्रवाह की अपेक्षा से अनादि है। यह सबका अनुभव है कि प्राणी सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते, किसी न किसी तरह की हलचल किया ही करता है। हलचल का होना ही कर्म बन्ध की जड़ है। इससे यह सिद्ध है कि कर्म, व्यक्तिश: आदि वाले ही है। किन्तु कर्म का प्रवाह कब से चला? इसे कोई बतला नहीं सकता। भविष्यत् के सामन भूतकाल की गहराई अन्नत है। अनन्त का वर्णन अनादि या अनन्त शब्द के सिवाय और किसी तरह से होना असम्भव है। इसलिये कर्म के प्रवाह को अनादि कहे विना दूसरी गति ही नहीं है। कुछ लोग अनादित्व की अस्पष्ट व्याख्या की उलझन से घवड़ाकर कर्म-प्रवाह को सादि वतलाने लग जाते है, पर वे अपने बुद्धि की अस्थिरता से कल्पित दोष की आशंका करके, उसे दूर करने के प्रयत्न में एक बड़े दोष को स्वीकार कर लेते है। वह यह कि कर्म प्रवाह यदि

आदिमान है तो जीव पहले ही अत्यन्त शुद्ध-बुद्ध होना चाहिये, फिर उसे लिप्त होने का क्या कारण ? और यदि सर्वथा शुद्ध-बुद्ध जीव भी लिप्त हो जाता है तो मुक्त हुये जीव भी कर्म लिप्त होंगे; ऐसी दशा में मुक्ति को सोया हुआ ससार ही कहना चाहिये। कर्म प्रवाह के अनादित्व को और मुक्त जीव के फिर से संसार में न लौटने को सब प्रतिष्ठित दर्शन मानते है, जैसेः-

न कर्माऽविभागादिति चेन्नाऽनादित्वात् ।। ३५ ।।
उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ।। ३६ ।।-ब्रह्मसूत्र अ. २ पा. १
अनावृत्तिः शब्दादनावृत्ति शब्दात् ।।२२।।-ब्र. सू. अ. ४ पा. ४

कर्मबन्ध का कारण-जैन दर्शन में कर्म वन्ध के मिथ्यात्व अविरति, कषाय और योग, ये चार कारण बतलाये गये हैं। इनका संक्षेप पिछले दो (कषाय और योग) कारणो मे किया हुआ भी मिलता है अधिक सक्षेप करके कहा जाय तो यह कह सकते है कि कषाय ही कर्म बन्ध का कारण है यो तो कषाय के विकार के अनेक प्रकार है, पर उन सबका सक्षेप मे वर्गीकरण करके आध्यात्मिक विद्वानों ने उसके राग, द्वेष दो ही प्रकार किये हैं। कोई भी मानसिक विकार हो, या तो वह राग (आसक्ति) रूप या द्वेष (ताप) रूप है। यह भी अनुभव सिद्ध है कि साधारण प्राणियों की प्रवृत्ति, चाहे वह ऊपर से कैसी ही क्यों न दीख पडे, पर वह या तो रागमूलक या द्वेष मूलक होती है। ऐसी प्रवृत्ति ही विविध वासनाओं का कारण होती है। प्राणी जान सके या नहीं, पर उसकी वासनात्मक सूक्ष्म सृष्टिका कारण, उसके राग और द्वेष ही होते है। मकड़ी, अपनी ही प्रवृत्ति से अपने किये हुये जाल में फंसती है। जीव भी कर्म के जाले को अपनी ही वे-समझी से रच लेता है। अज्ञान, मिथ्या-ज्ञान आदि जो कर्म के कारण कहे जाते है सो भी राग-

द्वेष के सम्बन्ध से ही। राग की या द्वेष की मात्र बढ़ी कि ज्ञान, विपरीत रूप मे बदलने लगा। इससे शब्द-भेद होने पर भी कर्मबन्ध के कारण के सम्बन्ध में अन्य आस्तिक दर्शनों के साथ, जैन दर्शन का कोई मतभेद नहीं। नैयायिक तथा वैशेषिक दर्शन मे मिथ्या ज्ञान को, योगदर्शन में प्रकृति-पुरुष के अभेद ज्ञान को और वेदान्त आदि में अविद्याको तथा जैन दर्शन में मिथ्यात्व को कर्म का कारण बतलाया है, परन्तु यह बात ध्यान मे रखनी चाहिये किसी को भी कर्म का कारण क्यों न कहा जाय, पर यदि उसमें कर्म की बन्धकता (कर्म-लेप पैदा करने की शक्ति) है तो वह रागद्वेष के सम्बन्ध से ही। रागद्वेष की न्यूनता या अभाव होते ही अज्ञानपन (मिथ्यात्व) कम होता या नष्ट हो जाता है। महाभारत शान्ति पर्व के "कर्मणा बध्यते जन्तुः" इस कथन मे भी कर्म शब्द का मतलब रागद्वेष से ही है।

कर्म से छूटने के उपाय—अब यह विचार करना जरूरी है कि कर्म पटल से आवृत अपने परमात्मभाव को जो प्रकट करना चाहते है, उनके लिये किन किन साधनों की अपेक्षा है।

जैन-शास्त्र में परम पुरुषार्थ—मोक्ष पाने के तीन साधन बतलाये हुए है—सम्यगदर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र। कही-कही ज्ञान और क्रिया, दो को ही मोक्ष का साधन कहा है। ऐसे स्थल में दर्शन को ज्ञान स्वरूप—ज्ञान का विशेष—समझकर उससे जुदा नही गिनते। परन्तु यह प्रश्न होता है कि वैदिक दर्शनों में कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति इन चारो को मोक्ष-का साधन माना है फिर जैनदर्शन में तीन या दो ही साधन क्यों कहे गये? इसका समाधान इस प्रकार है कि जैनदर्शन में जिस सम्यक्चारित्र को सम्यक् क्रिया कहा है, उसमें कर्म और योग दोनों मार्गो का समावेश हो जाता है। क्योंकि सम्यक्

चारित्र में मनोनिग्रह, इन्द्रिय-जय, चित्त-शुद्धि, समभाव और उनके लिये किये जाने वाले उपायों का समावेश होता है। मनो-निग्रह, इन्द्रिय-जय आदि सात्विक यज्ञ ही कर्म मार्ग है और चित्त-शुद्धि तथा उसके लिये की जाने वाली सत्प्रवृत्ति ही योग मार्ग है। इस तरह कर्म मार्ग और योग मार्ग का मिश्रण ही (सम्यक्) चारित्र है। सम्यग्दर्शन ही भक्ति मार्ग है, क्योंकि भक्ति में श्रद्धा का अंश प्रधान है और सम्यग्दर्शन भी श्रद्धा रूप ही है। सम्यग्ज्ञान ही ज्ञानमार्ग है। इस प्रकार जैनदर्शन में बतलाये हुये मोक्ष के तीन साधन अन्य दर्शनों के सब साधनों का समुचय है।

आत्मा स्वतन्त्र तत्त्व है—कर्म के सम्बन्ध मे ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसको ठीक-ठीक सगति तभी हो सकती है, जब कि आत्मा को जड़ से अलग तत्त्व माना जाय। आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्वत्व इन सात प्रमाणों से माना जा सकता है – क–स्वसवेदन रूप साधक प्रमाण, ख–बाधक प्रमाण का अभाव, ग–निषेध से निषेध कर्त्ता की सिद्धि, घ–तर्क, ङ–शास्त्र व महात्माओं का प्रामाण्य, च–आधुनिक विद्वानों की सम्मति और छ–पुनर्जन्म।

क. स्वसंवेदन रूप साधक प्रमाण—यद्यपि सभी हेह-धारी अज्ञान के आवरण से न्यूनाधिक रूप में घिरे हुए है और इससे वे कपने ही अस्तित्व का सन्देह करते है, तथापि जिस समय उनकी बुद्धि थोड़ी सी भी स्थिर हो जाती है उस समय उनको यह स्फुरणा होती है कि 'मैं हूँ'। यह स्फुरणा कभी नही होती कि 'मैं नही हूँ'। इससे उलटा यह भी निश्चय होता है कि 'मैं नही हूं' यह बात नहीं। इसी बात को श्री शंकराचार्य्य ने भी कहाब्रह्म. भाष्य १-१-१ में कहा है:—

"सर्वो ह्यात्माऽस्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति"
इसी निश्चय को स्वसंवेदन आत्मनिश्चय कहते है ।

ख. वाधक प्रमाण का अभाव—ऐसा कोई प्रमाण नही है जो आत्मा के अस्तित्व का बाध (निषेध) करता हो । इस पर यद्यपि यह शंका हो सकती है कि मन और इन्द्रियों के द्वारा आत्मा का ग्रहण न होना ही उसका बाध है। परन्तु इसका समाधान सहज है । किसी विषय का प्रमाण वही माना जाता है जो उस विषय को जानने की शक्ति रखता हो और अन्य सब सामग्री मौजूद होने पर उसे ग्रहण कर न सके । उदाहरणार्थ— आख, मिट्टी के घड़े को देख सकती है, पर जिस समय प्रकाश, समीपता आदि सामग्री रहने पर भी वह मिट्टी के घड़े को न देखे, उस समय ऊसे उस विषय की बाधक समझना चाहिये ।

इन्द्रिया सभी भौतिक है । उनकी ग्रहण शक्ति बहुत परिमित है । वे भौतिक पदार्थों में से भी स्थूल, निकटवर्ती और नियत विषयों को ही ऊपर ऊपर से जान सकती है । सूक्ष्म-दर्शन यन्त्र आदि साधनों की वही दशा है । वे अभी तक भौतिक प्रदेश में ही कार्यकारी सिद्ध हुये है । इसलिये उनका अभौतिक-अमूर्त्त-आत्मा को जान न सकना बाध नही कहा जा सकता मन, भौतिक होने पर भी इंद्रियों की अपेक्षा अधिक सामर्थ्यवान् है सही, पर जब वह इन्द्रियों का दास बन जाता है—एक के पीछे एक, इस तरह अनेक विषयों में बन्दर के समान दौड़ लगाता फिरता है-तब उसमें राजस व तामस वृत्तियां पैदा होती है । सात्विक भाव प्रकट होने नही पाता । यही बात गीता अ. २ श्लोक. ६७ में भी कही हुई है :-

"इन्द्रियांणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ।।"

इसलिये चचल मन में आत्मा की स्फुरणा भी नही होती। यह देखी हुई बात है कि प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की शक्ति, जिस दर्पण मे वर्नमान है वह भी जब मलिन हो जाता है तब उसमें किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब व्यक्त नही होता। इससे यह बात सिद्ध है कि बाहरी विषयों मे दौड़ लगाने वाले अस्थिर मन से आत्मा का ग्रहण न होना उसका बाध नही, किन्तु मन की अशक्ति मात्र है।

इस प्रकार विचार करने से यह प्रमाणित होता है कि मन, इन्द्रिया, सूक्ष्मदर्शक यन्त्र आदि सभी साधन भौतिक होने से आत्मा का निषेध करने की शक्ति नही रखते।

ग. निषेध से निषेध कर्त्ता की सिद्धि—कुछ लोग यह कहते है कि "हमें आत्मा का निश्चय नही होता, बल्कि कभी-कभी उसके अभाव की स्फुरणा हो आती है, क्यों कि किसी समय मन में ऐसी कल्पना होने लगती है कि 'मै नही हूं'। इत्यादि" परन्तु जानना यह चाहिये कि उनकी यह कल्पना ही आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करती है। क्योंकि यदि आत्मा ही न हो तो ऐसी कल्पना का प्रादुर्भाव कैसे ? जो निषेध कर रहा है वह स्वय ही आत्मा है। इस वात को श्री शंकराचार्य्य ने अपने ब्रह्मसूत्र के भाष्य अ. २ पा. ३ अ. १ सू. ७ में भी कहा है:—"य एव ही निराकर्त्ता तदेव ही तस्य स्वरूपम्।"

घ. तर्क—यह भी आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व की पुि करता है। वह कहता है कि जगत् में सभी पदार्थो का विरो कोई न कोई देखा जाता है। अन्धकार का विरोधी प्रकाश उष्णता का विरोधी शैत्य। सुख का विरोधी दुःख। इसी तर जड़ पदार्थ का विरोधी भी कोई तत्त्व होना चाहिये। * द तत्त्व जड़ का विरोधी है वही चेतन या आत्मा है।

इस पर यह तर्क किया जा सकता है कि 'जड़, चेतन ये दो स्वतन्त्र विरोधी तत्त्व मानना उचित नही, परन्तु किसी एक ही प्रकार के मूल पदार्थ में जड़त्व व चेतनत्व दोनों शक्तियां मानना उचित है। जिस समय चेतनत्व शक्ति का विकास होने लगता है-उसकी व्यक्ति होती है-उस समय जड़त्व शक्ति का तिरोभाव रहता है। सभी चेतन शक्ति वाले प्राणी जड़ पदार्थ के विकास के ही परिणाम है। वे जड़ के अतिरिक्त अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नही रखते, किन्तु जड़त्व शक्ति का तिरोभाव होने से जीवधारी रूप में दिखाई देते।' ऐसा ही मन्तव्य हेकल आदि अनेक पश्चिमीय विद्वानों का भी है। परन्तु उस प्रतिकूल तर्क का निवारण अशक्य नही है।

यह देखा जाता है कि किसी वस्तु मे जब एक शक्ति का प्रादुर्भाव होता है तव उसमें दूसरी विरोधिनी शक्ति का तिरोभाव हो जाता है। परन्तु जो शक्ति तिरोहित हो जाती है वह सदा के लिये नहीं, किसी समय अनुकूल निमित्त मिलने पर फिर भी उसका प्रादुर्भाव हो जाता है। इसी प्रकार जो शक्ति प्रादुर्भूत हुई होती है वह भी सदा के लिए नहीं। प्रतिकूल निमित्त मिलते ही उसका तिरोभाव हो जाता है। उदाहरणार्थ पानी के अणुओ को लीजिये, वे गरमी पाते ही भाप रूप में परिणत हो

* यह तर्क निर्मूल या अप्रमाण नही, वल्कि इस प्रकार का तर्क शुद्ध वुद्धिका चिन्ह है। भगवान् वुद्ध को भी अपने पूर्व जन्म मे अर्थात् सुमेध नामक व्राह्मण के जन्म में ऐसा ही तर्क हुआ था। "यथा हि लोके दुक्खस्स पटिलक्खभूतं सुखं नाम अत्थि, एव भवे सति तप्पटिपक्खेन विभवेनाऽपि भवितव्वं यथा च उण्हे सति तस्स वूपसमभूतं सीतंऽपि अत्थि, एव रागादीनं अग्गीन वूपसमेन निव्वानेनाऽपि भवितव्वं।"

जाते है, फिर शैत्य आदि निमित्त मिलते ही पानी रूप में वरसते है और अधिक शीतत्व प्राप्त होने पर द्रवत्व रूप को छोड़ वर्फ-रूप में घनत्व को प्राप्त कर लेते है।

इसी तरह यदि जड़त्व-चेतनत्व दोनों शक्तियों को किसी एक मूल तत्त्वगत मान ले, तो विकासवाद ही न ठहर सकेगा। क्योंकि चेतनत्व शक्ति के विकास कारण जो आज चेतन (प्राणी) समझे जाते है, वे ही सब जड़त्व शक्ति का विकास होने पर फिर जड़ हो जायेंगे। जो पाषाण आदि पदार्थ आज जड़ रूप मे दिखाई देते है वे कभी चेतन हो जायेंगे और चेतन रूप से दिखाई देने वाले मनुष्य, पशु पक्षी आदि प्राणी कभी जड़ रूप भी हो जायेंगे। अतएव एक-एक पदार्थ में जड़त्व चेतनत्व दोनो विरोधिनी शक्तियों को न मानकर जड़ चेतन दो स्वतन्त्र तत्त्वो को ही मानना ठीक है।

ङ. शास्त्र व महात्माओं का प्रामाण्य—अनेक पुरातन शास्त्र भी आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व का प्रदिपादन करते है। जिन शास्त्रकारों ने वड़ी शान्ति व गम्भीरता के साथ आत्मा के विषय मे खोज की है, उनके शास्त्र गत अनुभव को यदि हम विना ही अनुभव किये चपलता से यों ही हस दे तो, इसमे क्षुद्रता किस की? आज कल भी अनेक महात्मा ऐसे देखे जाते है कि जिन्होंने अपना जीवन पवित्रता पूर्वक आत्मा के विचार में ही विताया। उनके शुद्ध अनुभव को हम यदि अपने भ्रान्त अनुभव के वल पर न माने तो इसमें न्यूनता हमारी ही है। पुरातन शास्त्र और वर्तमान अनुभवी महात्मा निःस्वार्थ भाव-से आत्मा के अस्तित्व को वतला रहे है।

च. आधुनिक वैज्ञानिकों की सम्मति—आज कल लोग प्रत्येक विषय का खुलासा करने के लिये वहुधा वैज्ञानिक

विद्वानों का विचार जानना चाहते है। यह ठीक है कि अनेक पश्चिमीय भौतिक-विज्ञान-विशारद आत्मा का नहीं मानते या उसके विषय में सदिग्ध है। परन्तु ऐसे भी अनेक धुरन्धर वैज्ञानिक है कि जिन्होने अपनी सारी आयु भौतिक खोज मे बिताई है, पर उनकी दृष्टि भूतों से परे आत्मतत्त्व की ओर भी पहुँची है। उनमें से सर ऑलीवर लॉज और लॉर्ड केलविन, इनका नाम वैज्ञानिक ससार में मशहूर है। ये दोनों विद्वान् चेतन तत्त्व को जड़ से जुदा मानने के पक्ष मे है। उन्होंने जड-वादियों की युक्तियों का खण्डन बड़ी सावधानी से व विचार-सरणी से किया है। उनका मन्तव्य है कि चेतन के स्वतन्त्र अस्तित्व के सिवाय जीवधारियों के देह की विलक्षण रचना किसी तरह बन नही सकती। वे अन्य भौतिकवादियों कि तरह मस्तिष्क को ज्ञान की जड़ नही समझते, किन्तु उसे ज्ञान के आविर्भाव का साधन मात्र समझते है। *

डा. जगदीशचन्द्र बोस जिन्होने सारे वैज्ञानिक ससार में नाम प या है, उनकी खोज से यहां तक निश्चय हो गया है कि वनस्पतियों मे भी स्मरण-शक्ति विद्यमान है। बोस महाशय ने अपने आविष्कारों से स्वतन्त्र आत्म-तत्त्व मानने के लिये वैज्ञा-निक संसार को विवश किया है।

छ. पुनर्जन्म–अनेक प्रश्न ऐसे है कि जिनका पूरा समा-धान पुनर्जन्म माने बिना नही होता। गर्भ के आरम्भ से लेकर जन्म तक वालक को जो जो कष्ट भोगने पड़ते है, वे सब उस वालक की कृति के परिणाम है या उसके माता पिता की कृति के? उन्हें वालक की इस जन्म की कृति का परिणाम नही कह सकते, क्योंकि उसने गर्भावस्था में तो अच्छा बुरा कुछ भी काम नहीं किया है। यदि माता-पिता की कृति का

कहें तो भी असगत जान पड़ता है, क्योंकि माता -पिता अच्छा या बुरा कुछ भी करे, उसका परिणाम बिना कारण बालक-को क्यों भोगना पड़े ? बालक जो कुछ सुख दुःख भोगता है, वह यों ही विना कारण भोगता है, यह मानना तो अज्ञान की पराकाष्ठा है, क्योकि बिना कारण किसी कार्य का होना असम्भव है। यदि यह कहा जाय कि माता-पिता के आहार बिहार का, विचार-व्यवहार का और शरीरिक-मानसिक अवस्थाओं का असर बालक पर गर्भावस्था से ही पड़ना शुरु होता है तो फिर भी सामने यह प्रश्न होता है कि बालक को ऐसे माता पिता-पिता का सयोग क्यों हुआ ? और इसका क्या समाधान है कि कभी-कभी बालक की योग्यता माता-पिता से बिलकुल ही जुदा प्रकार की होती है। ऐसे अनेक उदाहरण देखे जाते है कि माता-पिता बिलकुल अपढ होते है और लड़का पूरा शिक्षित वन जाता है। विशेष क्या ? यहां तक देखा जाता है कि किन्हीं-किन्ही माता-पिताओं की रुचि, जिस बात पर विलकुल ही नहीं होती उसमे बालक सिद्धहस्त हो जाता है। इसका कारण केवल आस-पास की परिस्थिति ही नही मानी जा सकती, क्योंकि समान परिस्थिति और वरावर देख भाल होते हुये भी अनेक विद्यार्थियों मे विचार व व्यवहार की भिन्नता देखी जाती है। यदि कहा जाय कि यह परिणाम वालक के अद्‌भुत ज्ञानतंतुओं-का है, तो इस पर यह शका होती है कि वालक का देह माता-पिता के शुक्रशोणित से वना होता है, फिर उनमे अविद्यमान ऐसे

---

* इन दोनों चैतन्यवादियो के विचार की छाया, संवत् १९६१ के ज्येष्ठ मास के, १९६२ के मार्गशीर्ष मास के और १९६५ के भाद्रपद माम के 'वसन्त' पत्र मे प्रकाशित हुई है।

ज्ञानतंतु बालक के मस्तिष्क में आये कहां से ? कही-कही माता-पिता कीसी ज्ञान शक्ति बालक में देखी जाती है सही, पर इसमें भी प्रश्न है कि ऐसा सुयोग क्यों मिला ? किसी-किसी जगह यह भी देखा जाता है कि माता-पिता की योग्यता बहुत बढी-चढी होती है और उनके सौ प्रयत्न करने पर भी लडका गंवार ही रह जाता है।

यह सबको विदित ही है कि एक साथ--युगलरूप से जन्मे हुये दो बालक भी समान नही होते। माता-पिता की देखभाल बराबर होने पर भी एक साधारण ही रहता है और दूसरा कही आगे बढ़ जाता है। एक का पिण्ड; रोग से नही छूटता और दूसरा बड़े-बड़े कुश्ती बाजों से हाथ मिलता है। एक दीर्घ जीवी बनता है और दूसरा सौ यत्न करने पर भी यम का अतिथि बन जाता है। एक की इच्छा सयत होती है और दूसरे-की असंयत।

जो शक्ति, महावीर में, बुद्ध में, शङ्कराचार्य्य मे थी, वह माता पिताओं मे न थी। हेमचन्द्राचार्य की प्रतिभा के कारण उनके माता-पिता नही माने जा सकते। उनके गुरु भी उनकी प्रतिभा के मुख्य कारण नही, क्योंकि देवचन्द्रसूरि के हेमचन्द्राचार्य के सिवाय और भी शिष्य थे, फिर क्या कारण है कि दूसरे शिष्यों-का नाम लोग जानने तक नही और हेमचन्द्राचार्य का नाम इतना प्रसिद्ध है ? श्रीमती एनी बिसेन्ट में जो विशिष्ट शक्ति देखी जाती है, वह उनके माता पिताओं में न थी, और न उनकी पुत्री में भी। अच्छा, और भी कुछ प्रामाणिक उदाहरण सुनिये.-

प्रकाश की खोज करने वाले डा. यंग दो वर्ष की उम्र में पुस्तक को बहुत अच्छी तरह वांच सकते थे। चार वर्ष की उम्र में वे दो दफे बाइबल पढ चुके थे। सात वर्ष की अवस्था में उन्होंने

गणित शास्त्र पढ़ना आरम्भ किया था और तेरहर वर्ष की अवस्था में लेटिन, ग्रीक, हिब्रु, फ्रेंच, इटालियन आदि भाषाएं सीख ली थी। सर विलियम रोवन हेमिल्ट ने तीन वर्ष की उम्र मे हिब्रु भाषा सीखना आरम्भ किया और सात वर्ष की उम्र में उस भाषा मे इतने निपुण हुये कि डब्लीन की ट्रीनिटी कालेज के एक फेलो को स्वीकार करना पडा कि कालेज के फेलो पद के प्राथियों मे भी उनके बराबर ज्ञान नही है और तेरह वर्ष की वय में तो उन्होंने कम से कम तेरह भाषा पर अधिकार जमा लिया था। ई. स. १८९२ में जन्मी हुई एक लड़की ई. १९०२ मे, दस वर्ष की अवस्था में एक नाटक मण्डल मे सम्मिलित हुई थी। उसने उस अवस्था मे कई नाटक लिखे थे। उसकी माता के कथनानुसार वह पांच वर्ष की वय मे कई छोटी-मोटी कविताए बना लेती थी। उसकी लिखी हुई कुछ कविताएं महारानी विक्टोरिया के पास थी। उस समय उस बालिका का अंग्रेजी ज्ञान भी आश्चर्यजनक था। वह कहती थी कि मैं अंग्रेजी पढ़ी नही हूँ, परन्तु उसे जानती जरूर हूँ।

उक्त उदाहरणो पर ध्यान देने से यह स्पष्ट जान पडता है कि इस जन्म म देखी जाने वाली सब विलक्षणताएं न तो वर्तमान जन्म की कृतिका ही परिणाम है, न माता पिता के केवल सस्कार का ही; और न केवल परिस्थिति का ही। इसलिये आत्मा के अस्तित्व की मर्यादा को गर्भ के आरम्भ से और भी पूर्व मानना चाहिये। वही पूर्व जन्म है। पूर्व जन्म मे इच्छा या प्रवृत्ति द्वारा जो संस्कार संचित हुये हो, उन्ही के आधार पर उपर्युक्त शङ्काओं का तथा विलणताओं का सुसंगत समाधान हो जाता है। जिस युक्ति से एक पूर्व जन्म सिद्ध हुआ, उसी के बल से अनेक पूर्व जन्म की परम्परा सिद्ध हो जाती है। क्योंकि

अपरिमित ज्ञान-शक्ति एक जन्म के अभ्यास का फल नहीं हो सकता। इस प्रकार आत्मा, देह से जुदा अनादि सिद्ध होता है। अनादि तत्त्व का कभी नाश नही होता, इस सिद्धांत को सभी दार्शनिक मानते है। गीता में भी कहा है—

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।" २-२६

इतना ही नही, वल्कि वर्तमान शरीर के वाद आत्मा का अस्तित्व माने विना अनेक प्रश्न हल ही नही हो सकते।

बहुत लोग ऐसे देखे जाते है कि वे इस जन्म में तो प्रामाणिक जीवन विताते है, परन्तु रहते हैं दरिद्री। और ऐसे भी देखे जाते है कि जो न्याय, नीति और धर्म का नाम सुनकर चिढते है, परन्तु होते है वे सब तरह से सुखी। ऐसी अनेक व्यक्तिय मिल सकते है, जो है तो स्वयं दोषी, और उनके दोषो का-अपराधों का—फल भोग रहे है दूसरे,। एक हत्या करता है और दूसरा पकड़ा जाकर फांसी पर लटकाया जाता है। एक करता है चोरी और पकडा जाता है दूसरा। अब इस पर विचार करना चाहिये कि जिनको अपनी अच्छी या बुरी कृति का वदला इस जन्म मे नही मिला, उनकी कृति क्या यो ही विफल हो जायगी? यह कहना कि कृति विफल नही होती; यदि कर्त्ता को फल नही मिला तो भी उसका असर समाज के या देश के अन्य लोगों पर होता ही है, सो भी ठीक नही। क्योकि मनुष्य जो कुछ करता है वह सब दूसरों के लिये ही नही। रात-दिन परोपकार करने में निरत महात्माओं की भी इच्छा, दूसरों की भलाई करने के निमित्त से अपना परमात्मत्व प्रकट करने की ही रहती है। विश्व की व्यवस्था में इच्छा का वहुत ऊंचा स्थान है। ऐसी दशा में वर्तमान देह के साथ इच्छा के मूल का भी नाश मान लेना युक्तिसगत नही। मनुष्य अपने

जीवन की आखिरी घड़ी तक ऐसी ही कोशिश करता रहता
जिससे कि अपना भला हो। यह नही कि ऐसा करने वा
सब भ्रान्त ही होते है। बहुत आगे पहुंचे हुये स्थिरचित्त
शान्त प्रज्ञाबान् योगी भी इसी विचार से अपने साधन को सि
करने की चेष्टा में लगे रहते है कि इस जन्म में नहीं तो दूसरे
ही सही, किसी समय हम परमात्मभाव को प्रकट कर ही लेंगे
इसके सिवाय सभी के चित्त मे यह स्फुरणा हुआ करती है
मै बराबर कायम रहूँगा। शरीर, नष्ट होने के बाद चेतन
अस्तित्व यदि न माना जाय तो व्यक्ति का उद्देश्य कित
संकुचित बन जाता है और कार्य क्षेत्र भी कितना अल्प
जाता है ? औरों के लिये जो कुछ किया जाय परन्तु वह अ
लिये किये जाने वाले कामों के बराबर हो नही सकता। चेतन
उत्तर मर्यादा को वर्तमान देह के अन्तिम क्षण तक मान लेने
व्यक्ति को महत्वाकांक्षा एक तरह में छोड देनी पडती है। इ
जन्म में नही तो अगले जन्म में सही, परन्तु मै अपना उद्दे
अवश्य सिद्ध करूंगा, यह भावना मनुष्य के हृदय मे जितना ब
प्रकटा सकती है, उतना बल अन्य कोई भावना नही प्रक
सकती। यह भी नही कहा जा सकता कि उक्त भावना मिथ्य
है, क्योंकि उसका आविर्भाव नैसर्गिक और सर्वविदित है
विकासवाद भले ही भौतिक रचनाओं को देखकर जड़ तत्त्व
पर खड़ा किया गया हो, पर उसका विपय चेतन भी बन
सकता है। इन सब बातों पर ध्यान देने से यह माने बिना
संतोप नही होता कि चेतन एक स्वतन्त्र तत्त्व है। वह जानते
या अनजानते जो अच्छा बुरा कर्म करता है, उसका फल उसे
भोगना ही पड़ता है और इसलिये उसे पुनर्जन्म के चक्कर में
आ पड़ता है। बुद्ध भगवान् ने भी पुनर्जन्म माना है।

पक्का निरीश्वरवादी जर्मन पण्डित निट्शे, कर्मचक्रकृत् पूर्वजन्म को मानता है। यह पुनर्जन्म का स्वीकार आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को मानने के लिये प्रबल प्रमाण है।

कर्म-तत्त्व के विषय में जैनदर्शन की विशेषता—जैनदर्शन में प्रत्येक कर्म की बध्यमान, सत् और उदयमान, ये तीन अवस्थाये मानी हुई है। उन्हे क्रमशः बन्ध, सत्ता और उदय कहते है। जैनेतर दर्शनों में भी कर्म की इन अवस्थाओं का वर्णन है। उनमे बध्यमान कर्म को 'क्रियमाण' सत्कर्म को 'संचित' और उदयमान कर्म को 'प्रारब्ध' कहा है। किन्तु जैनशास्त्र में ज्ञानावरणीय आदि रूप से कर्म के ८ तथा १४८ भेदों में वर्गीकरण किया है और इसके द्वारा ससारी आत्मा की अनुभव सिद्ध भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का जैसा खुलासा किया गया है, वैसा किसी भी जैनेतर दर्शन में नहीं है। पातञ्जल दर्शन में कर्म के जाति, आयु और भोग, ये तीन तरह के विपाक वतलाये है, परन्तु जैनदर्शन में कर्म के सम्बन्ध मे किये गये विचार के सामने यह वर्णन नाममात्र का है।

आत्मा के साथ कर्म का बन्ध कैसे होता है? किन-किन कारणों से होता है? किस कारण से कर्म में कैसी शक्ति पैदा होती है? कर्म, अधिक से अधिक और कम से कम कितने समय तक आत्मा के साथ लगा रह सकता है? आत्मा के साथ लगा हुआ भी कर्म, कितने समय तक विपाक देने में असमर्थ है। विपाक का नियत समय भी बदला जा सकता है या नहीं? यदि वदला जा सकता है तो उसके लिये कैसे आत्मपरिणाम आवश्यक हैं? एक कर्म, अन्य कर्मरूप कव वन सकता है? उसकी वन्धकालीन तीव्र-मन्द शक्तियां किस प्रकार बदली जा

किस तरह भोगा जा सकता है ? कितना भी वलवान् कर्म क्यों न हो, पर उसका विपाक शुद्ध आत्मिक परिणामों से कैसे रोक दिया जाता है ? कभी-कभी आत्मा के शतश. प्रयत्न करने पर भी कर्म, अपना विपाक बिना भोगवाये नही छूटता ? आत्मा, किस तरह कर्म का कर्त्ता और किस तरह भोक्ता है ? इतना होने पर भी वस्तुतः आत्मा में कर्म का कर्तृत्व और भोक्तृत्व किस प्रकार नही है ? संक्लेशरूप परिणाम अपनी आकर्षण शक्ति से आत्मा पर एक प्रकार की सूक्ष्म रज का पटल किस तरह डाल देते हैं ? आत्मा वीर्य-शक्ति के आविर्भाव के द्वारा इस सूक्ष्म रज के पटल को किस तरह उठा फेक देता है ? स्वभावतः शुद्ध आत्मा भी कर्म के प्रभाव से किस-किस प्रकार मलिन-सा दीखता है ? और बाह्य हजारों आवरणो के होने पर भी आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप से च्युत किस तरह नही होता ? वह अपनी उत्क्रान्ति के समय पूर्वबद्ध तीव्र कर्मो को भी किस तरह हटा देता है ? वह अपने में वर्त्तमान परमात्म-भाव को देखसे के लिये जिस समय उत्सुक होता है उस समय उसके और अन्तरायभूत कर्म के बीच कैसा द्वन्द्व (बुद्ध) होता है ? अन्त में वीर्यवान् आत्मा किस प्रकार के परिणामों से वलवान् कर्मो को कमजोर करके अपने प्रगति-मार्ग को निष्कण्टक करता है? शुद्ध आत्म स्थल में वर्तमान परमात्मदेव का साक्षात्कार कराने मे सहायक परिणाम, जिन्हे 'अपूर्वकरण' तथा 'अनिवृत्तिकरण' कहते है, उनका क्या स्वरूप है ? जीव अपनी शुद्ध-परिणाम-तरंगमाला के वैद्युतिक यन्त्र से कर्म के पहाड़ों को किस कदर चूर-चूर कर डालता है ? कभी-कभी ंट खाकर कर्म ही, जो कुछ देर के लिये दवे होते है, वे ही तशील आत्मा को किस तरह नीचे पटक देते है ? कौन-

–२ कर्म, बन्ध की व उदय की अपेक्षा आपस में विरोधी है ? किस कर्म का बन्ध किस अवस्था में अवश्यम्भावी और किस अवस्था में अनियत है ? किस कर्म का विपाक किस हालत तक नियत और किस हालत में अनियत है ? 'आत्म सम्बन्ध अतीन्द्रिय कर्मराज किस प्रकार की आकर्षण शक्ति से स्थूल पुद्गलों को खीचा करती है और उनके द्वारा शरीर, मन, सूक्ष्म शरीर आदि का निर्माण किया करती है ? इत्यादि संख्यातीत प्रश्न, जो कर्म से सम्बन्ध रखते है, उनका सयुक्तिक, विस्तृत व विशद खुलासा जैनकर्म साहित्य के सिवाय अन्य किसी भी दर्शन के साहित्य से नही किया जा सकता। यही कर्म तत्त्व के विषय में जैनदर्शन की विशेषता है।

ग्रन्थ-परिचय—संसार में जितने प्रतिष्ठित सम्प्रदाय (धर्मसंस्थाए) है, उन सबका साहित्य दो विभागों में विभाजित है:–तत्त्वज्ञान और आचार-क्रिया।

ये दोनों विभाग एक दूसरे से बिलकुल ही अलग नहीं है। उनका सम्बन्ध वैसा ही है जैसा शरीर में नेत्र और हाथ पैर आदि अन्य अवयवो का। जैन सम्प्रदाय का साहित्य भी तत्त्वज्ञान और आचार, इन दो विभागो मे बटा हुआ है। यह ग्रन्थ पहले विभाग से सम्बन्ध रखता है, अर्थात् इसमे विधिनिषेधात्मक क्रिया का वर्णन नही है, किन्तु इसमें वर्णन है तत्त्व का। यों तो जैनदर्शन में अनेक तत्त्वों पर विविध दृष्टि से विचार किया है, पर इस ग्रन्थ में उन सवका वर्णन नहीं है। इसमे प्रधानतया कर्मतत्त्व का वर्णन है। आत्मवादी सभी दर्शन किसी न किसी रूप में कर्म को मानते ही है, पर जैन दर्शन इस सम्बन्ध में अपनी असाधारण विशेषता रखता है अथवा यों कहिये कि कर्मतत्त्व के विचार-प्रदेश में जैन दर्शन अपना सानी

नही रखता, इसलिये इस ग्रन्थ को जैन दर्शन की विशेषता का या जैनदर्शन के विचारणीय तत्त्व का ग्रन्थ कहना उचित है।

विशेष परिचय—इस ग्रन्थ का अधिक परिचय करने के लिए इसके नाम, विषय, वर्णनक्रम, रचना का मूलाधार, परिमाण, भाषा, कर्त्ता आदि अनेक बातों की ओर ध्यान देना जरूरी है।

नाम—इस ग्रन्थ के 'कर्मविपाक' और 'प्रथम कर्मग्रन्थ' इन दो नामो में से पहला नाम तो विषयानुरूप है तथा उसका उल्लेख स्वय ग्रन्थकार ने आदि में "कम्मविवागं समासओ वुच्छं" तथा अन्त में "इ अ कम्मविवागोऽयं" इस कथन से स्पष्ट ही कर दिया है। परन्तु दूसरे नाम का उल्लेख कही भी नही किया है। वह नाम केवल इसलिए प्रचलित हो गया है कि कर्मस्तव आदि अन्य कर्मविषयक ग्रन्थों से यह पहला है, इसके बिना पढे कर्मस्तव आदि अगले प्रकरणो में प्रवेश ही नही हो सकता। पिछला नाम इतना प्रसिद्ध है कि पढ़ने-पढ़ाने वाले तथा अन्य लोग प्रायः उसी नाम से व्यवहार करते है। पहला कर्मग्रन्थ, इस प्रचलित नामसे मूल नाम यहां तक अप्रसिद्धसा हो गया है कि कर्मविपाक कहने से बहुत लोग कहने वाले का आशय ही नहीं समझते। यह बात इस प्रकरण के विषय में ही नही, बल्कि कर्मस्तव आदि अग्रिम प्रकरणों के विषय में भी बराबर लागू पड़ती है। अर्थात् कर्मस्तव, बन्धस्वामित्व, षडशीतिक, शतक और सप्तति का कहने से क्रमशः दूसरे, तीसरे, चौथे, पाचवे और छठे प्रकरण का मतलब बहुत कम लोग समझेंगे; परन्तु दूसरा, तीसरा, चौथा पाचवां और छठा कर्मग्रन्थ कहने से सब लोग कहने वाले का भाव समझ लेगे।

विषय—इस ग्रन्थ का विषय कर्मतत्त्व है, पर इसमे कर्म

से सम्बध रखने वाली अनेक बातों पर विचार न करके प्रकृति-अश पर ही प्रधानतया विचार किया है, अर्थात् कर्म की सब प्रकृतियों का विपाक ही इसमे मुख्यतया वर्णन किया गया है। इसी अभिप्राय से इसका नाम भी 'कर्मविपाक' रक्खा गया है।

वर्णन-क्रम—इस ग्रन्थ में सबसे पहले यह दिखाया है कि कर्मबन्ध स्वाभाविक नही, किन्तु सहेतुक है। इसके बाद कर्म का स्वरूप परिपूर्ण जनाने के लिये उसे चार अंशों में विभाजित किया है-प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश। इसके बाद आठ प्रकृतियों के नाम और उनके उत्तर भेदों की संख्या बताई गई है। अनन्तर ज्ञानवरणीय कर्म के स्वरूप को दृष्टांत, कार्य और कारण द्वारा दिखलाने के लिये प्रारम्भ में ग्रन्थकार ने ज्ञान का निरूपण किया है। ज्ञान के पांच भेदों को और उनके अवान्तर भेदों को संक्षेप में, परन्तु तत्त्व रूप से दिखाया है। ज्ञान का निरूपण करके उसके आवरणभूत कर्म का दृष्टान्त द्वारा उद्घाटन (खुलासा) किया है। अनन्तर दर्शनावरण कर्म को दृष्टान्त द्वारा समझाया है। पीछे उसके भेदों को दिखलाते हुये दर्शन शद्व का अर्थ बतलाया है।

दर्शनावरणीय कर्म के भेदों में पांच प्रकार की निद्राओं का सर्वानुभवसिद्ध स्वरूप, संक्षेप में, पर बड़ी मनोरंजकता से वर्णन किया है। इसके बार क्रम से सुखदु:खजनक वेदनीयकर्म, सद्विश्वास और सच्चारित्र के प्रतिवन्धक मोहनीयकर्म अक्षय जीवन-के विरोधी आयुकर्म, गति, जाति आदि अनेक अवस्थाओं के जनक नामकर्म, उच्चनीचगोत्रजनक गोत्रकर्म और लाभ आदि में रुकावट करने वाले अन्तराय कर्म का तथा उन प्रत्येक कर्म के भेदों का थोडे में, किन्तु अनुभवसिद्ध वर्णन किया है। अन्त में प्रत्येक कर्म के कारण को दिखाकर ग्रन्थ समाप्त किया है।

इस प्रकार इस ग्रन्थ का प्रधान विषय कर्म का विपाक है, तथापि प्रसंगवश इसमें जो कुछ कहा गया है, उस सबको संक्षेप मे पांच विभागों में बांट सकते है:—

१–प्रत्येक कर्म के प्रकृति आदि चार अंशों का कथन, २–कर्म की मूल तथा उत्तर प्रकृतियां, ३–पांच प्रकार के ज्ञान और चार प्रकार के दर्शन का वर्णन, ४–सब प्रकृतियों का दृष्टान्तपूर्वक कार्य-कथन, ५–सब प्रकृतियों के कारण का कथन।

आधार—यों तो यह ग्रन्थ कर्मप्रकृति, पंचसंग्रह आदि प्राचीनतर ग्रन्थों के आधार पर रचागया है, परन्तु इसका साक्षात् आधार प्राचीन कर्मविपाक है, जो श्री गर्गऋषि का बनाया हुआ है। प्राचीन कर्मग्रन्थ १६६ गाथाप्रमाण होने से पहले पहल कर्मशास्त्र में प्रवेश करने वालों के लिये बहुत विस्तृत हो जाता है, इसलिये उसका संक्षेप केवल ६१ गाथाओं में कर दिया गया है। इतना संक्षेप होने पर भी इसमें प्राचीन कर्मविपाक की खास व तात्त्विक बात कोई भी नही छूटी है। इतना ही नही, बल्कि संक्षेप करने में ग्रन्थकार ने यहां तक ध्यान रक्खा है कि कुछ अति उपयोगी नवीन विषय, जिनका वर्णन प्राचीन कर्मविपाक में नही है, उन्हे भी इस ग्रन्थ में दाखिल कर दिया है। उदाहरणार्थ–श्रुतज्ञान के पर्याय आदि २० भेद तथा आठ कर्मप्रकृतियों के बन्ध के हेतु, प्राचीन कर्मविपाक में नही है, पर उनका वर्णन इसमें है। संक्षेप करने में ग्रन्थकार ने इस तत्त्व की ओर भी ध्यान रक्खा है कि जिस एक बात का वर्णन करने से अन्य बातें भी समानता के कारण सुगमता से समझी जा सके वहां उस बात को ही बतलाना, अन्य को नहीं। इसी अभिप्राय से, प्राचीन कर्मविपाक मे जैसे प्रत्येक मूल या उत्तर प्रकृति का विपाक दिखाया है वैसे इस ग्रन्थ में नही

दिखाया है। परन्तु आवश्यक वक्तव्य में कुछ भी कमी नहीं की गई है। इसी से इस ग्रन्थ का प्रचार सर्वसाधारण हो गया है। इसके पढने वाले प्राचीन कर्मविपाक को बिना टीका-टिप्पण के अनायास ही समझ सकते हैं। यह ग्र०थ संक्षेप रूप से होने से सबको मुख-पाठ करने में व याद रखने में बड़ी आसानी होती है। इसी से प्राचीत कर्म विपाक के छप जाने पर भी इसकी चाह और मांग में कुछ भी कमी नहीं हुई है। इस कर्मविपाक की अपेक्षा प्राचीन कर्मविपाक बड़ा है सही, पर वह भी उससे पुरातन ग्रन्थ का संक्षेप ही है; यह बात उसकी आदि में वर्तमान "वोच्छं कम्मविवागं गुरुवइट्ठं समासेण" इस वाक्य से स्पष्ट है।

भाषा–यह कर्म ग्रन्थ तथा इसके आगे के अन्य सभी कर्मग्रन्थ मूल प्राकृत भाषा में हैं। इनकी टीका सस्कृत में है। मूल गाथाएं ऐसी सुगम भाषा में रची हुई है कि पढ़ने वालों को थोड़ा बहुत संस्कृत का बोध हो और उन्हें कुछ प्राकृत के निमय समझा दिये जाय तो वे मूल गाथाओं के ऊपर से ही विषय का परिज्ञान कर सकते है। संस्कृत टीका भी बड़ी विशद भाषा में खुला से के साथ लिखी गई है, जिससे जिज्ञासुओं को पढने में वहुत सुगमता होती है।

ग्रन्थकारकी जीवनी

समय–प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्त्ता श्री देवेन्द्रसूरिका समय विक्रम की १३ वीं शताब्दी का अन्त और चौदह वी शताब्दी का आरम्भ है। उनका स्वर्गवास वि. सं. १३३७ में हुआ, ऐसा उल्लेख गुर्वावली के १७४ वें श्लोक में स्पष्ट है; परन्तु उनके जग्म, दीक्षा, सूरिपद आदि के समय का उल्लेख कहीं नहीं मिलता; तथापि यह जान पड़ता है कि १२८५ में श्री जगच्चन्द्र

सूरि ने तपागच्छ की स्थापना की, तब वे दीक्षित हुए होंगे। क्योंकि गच्छस्थापना के बाद श्री जगच्चन्द्रसूरि के द्वारा ही श्री देवेन्द्रसूरि और श्री विजयचन्द्रसूरि को सूरिपद दिये जाने का वर्णन गुर्वावली के १०७ वे श्लोक में है। यह तो मानना ही पड़ता है कि सूरिपद ग्रहण करने के समय श्री देवेन्द्रसूरि वय, विद्या और सयम से स्थविर होंगे। अन्यथा इतने गुरुतर पद का और खास करके नवीन प्रतिष्ठित किये गये तपागच्छ के नायकत्व का भार वे कैसे सम्हाल सकते ?

उनका सूरिपद वि. सं. १२८५ के बाद हुआ। सूरिपद का समय अनुमान वि. सं. १३०० मान लिया जाय, तब भी यह कहा जा सकता है कि तपागच्छ की स्थापना के समय वे नव-दीक्षित होंगे। उनकी कुल उम्र ५० या ५२ वर्ष की मान ली जाय तो यह सिद्ध है कि वि. सं. १२७५ के लगभग उनका जन्म हुआ होगा। वि. सं. १३०२ मे उन्होने उज्जयिनी में श्रेष्टिवर जिनचन्द्र के पुत्र वीरधवल को दीक्षा दी, जो आगे विद्यानन्दसूरि के नाम से विख्यात हुये। उस समय देवेन्द्रसूरि की उम्र २५–२७ वर्ष की मान ली जाय तब भी उक्त अनुमान की १२७५ के लगभग जन्म होने की पुष्टि होती है। अस्तु; जन्म का, दीक्षा का तथा सूरिपद का समय निश्चित न होने पर भी इस वात में कोई संदेह नही है कि वे विक्रम की १३ वीं शताब्दी के अंत में तथा चौदह वी शताब्दी के आरम्भ में अपने अस्तित्व से भातवर्ष की, और खासकर गुजरात तथा मालवा की शोभा वढा रहे थे।

जन्मभूमि, जाति आदि–श्री देवेन्द्रसूरि का जन्म किस देश मे, किस जाति और किस परिवार में हुआ ? इसका कोई ...... तक नही मिला। गुर्वावली के पृष्ठ १०७ से आगे

उनके जीवन का वृत्तान्त है, पर वह है बहुत संक्षिप्त। उसमे सूरिपद ग्रहण करने के बाद की बातों का उल्लेख है, अन्य बातों का नही। इस लिये उसके आधार पर उनके जीवन के सम्बन्ध में जहा कही उल्लेख हुआ है वह अधूरा ही है। तथापि गुजरात और मालवा में उनका अधिक विहार, इस अनुमान की सूचना कर सकता है कि वे गुजरात या मालवा में से किसी देश मे जन्मे होंगे। उनकी जाति और माता-पिता के सम्बन्ध में तो साधन-अभाव से किसी प्रकार के अनुमान को अवकाश ही नही है।

विद्वत्ता और चारित्रतत्परता—श्री देवेन्द्रसूरिजी जैन शास्त्र के पूरे विद्वान् थे, इसमें तो कोई सन्देह नही; क्योंकि इस बात की गवाही उनके ग्रन्थ ही दे रहे है। अब तक उनका बनाया हुआ एसा कोई ग्रंथ देखने में नहीं आया, जिसमें उन्होंने स्वतन्त्र भाव से षड्दर्शन पर अपने विचार प्रकट किये हों, परन्तु गुर्वावली के वर्णन से पता चलता है कि वे षड्दर्शन के मार्मिक विद्वान् थे और इसीसे मंत्रीश्वर वस्तुपाल तथा अन्य २ विद्वान् उनके व्याख्यान में आया करते थे। यह कोई नियम नही है कि जो जिस विषय का पण्डित हो, वह उस पर ग्रंथ लिखे ही। कई कारणों से ऐसा नही भी हो सकता, परन्तु श्री देवेन्द्रसूरि का जैनागमविषयक ज्ञान हृदयस्पर्शी था, यह बात असन्दिग्ध है। उन्होने पाँच कर्मग्रन्थ, जो 'नवीन कर्मग्रन्थ' के नाम से प्रसिद्ध है (और जिन में से यह पहला है) सटीक रचे है। टीका इतनी विशद और सप्रमाण है कि उसे देखने के बाद प्राचीन कर्मग्रन्थ या उसकी टीकाये देखने की जिज्ञासा एक तरह से शांत हो जाती है। उनके संस्कृत तथा प्राकृत भाषा में रचे हुये अनेक ग्रंथ इस बात की स्पष्ट सूचना करते है कि वे संस्कृत प्राकृत भाषा के प्रखर पण्डित थे।

श्री देवेन्द्रसूरि केवल विद्वान् ही न थे, किन्तु वे चारित्र-धर्म में बड़े दृढ़ थे। इसके प्रमाण में इतना ही कहना पर्याप्त है कि उस समय क्रियाशिथिलता को देखकर श्रीजगच्चन्द्रसूरि ने बड़े पुरुषार्थ और निःसीम त्याग से, जो क्रियोद्धार किया था, उसका निर्वाह श्री देवेन्द्रसूरि ने ही किया। यद्यपि श्री जगच्चन्द्रसूरि ने श्री देवेन्द्रसूरि तथा श्री विजयचन्द्रसूरि दोनों को आचार्य पद-पर प्रतिष्ठित किया था, तथापि गुरु के आरम्भ किये हुये क्रियो-द्धारके दुर्धर कार्य को श्री देवेन्द्रसूरि ही सम्हाल सके। तत्कालीन शिथिलाचार्य्यौ का प्रभाव उन पर कुछ भी नही पड़ा। इससे उलटा श्री विजयचन्द्रसूरि, विद्वान् होने पर भी प्रमाद के-चंगुल मे फंस गये और शिथिलाचारी हुये। (गुर्वावली पद्य १२२ से आगे) अपने सहचारी को शिथिल देख, समझाने पर भी उनके न समझने से अन्त में श्री देवेन्द्रसूरि ने अपनी क्रियारुचि के कारण उनसे अलग होना पसंद किया। इससे यह बात साफ प्रमाणित होती है कि वे बड़े दृढ मन के और गुरु भक्त थे। उनका हृदय ऐसा संस्कारी था कि उसमें गुण का प्रतिबिम्व तो शीघ्र पड़ जाता था, दोष का नही, क्योकि १० वी ११ वी १२ वी, १३ वी शताब्दी में जो श्वेताम्बर तथा दिगम्बर के अनेक असाधारण विद्वान हुये, उनकी विद्वत्ता, ग्रन्थनिर्माणपटुता और चारित्रप्रि-

---

※ उदाहरणार्थ—श्री गर्गऋषि, जो दशवी शताब्दी मे हुये, उनके कर्म विपाक का संक्षेप इन्होने किया। श्री नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्र-वर्ती, जो ११ वी शताब्दी मे हुये, उनके रचित गोम्मटसार से श्रुतज्ञान के पदश्रुतादि वीस भेद पहले कर्मग्रन्थ मे दाखिल किये, जो श्वेताम्बरीय अन्य ग्रन्थ मे अब तक देखने मे नही आये। श्रीमलयागिरिसूरि, जो १२ वीं शताब्दी मे हुये, उनके ग्रन्थ के तो वाक्य के वाक्य इनके बनाये आदि मे दृष्टिगोचर होते हैं।

यता आदि गुणों का प्रभाव तो श्री देवेन्द्रसूरि के हृदय पर पड़ा, *परन्तु उस समय जो अनेक शिथिलाचारी थे, उनका असर इन पर कुछ भी नही पड़ा।

श्री देवेन्द्रसूरि के शुद्धक्रियापक्षपाती होने से अनेक मुमुक्षु-जो कल्याणार्थी व संविग्न-पाक्षिक थे, वे आकर उनसे मिल गये थे। इस प्रकार उन्होंने ज्ञान के समान चरित्र को भी स्थिर रखने व उन्नत करने में अपनी शक्ति का उपयोग किया था।

गुरु—श्री देवेन्द्रसूरि के गुरु थे श्री जगच्चन्द्रसूरि, जिन्होंने श्री देवभद्र उपाध्याय की मदद से क्रियोद्धार का कार्य आरम्भ किया था। इस कार्य में उन्होंने अपनी असाधारण त्यागवृत्ति दिखाकर औरों के लिए आदर्श उपस्थित किया था। उन्होने आजन्म आयंबिल व्रत का नियम लेकर घी, दूध आदि के लिए जैनशास्त्र में व्यवहार किये गये विकृत शद्ब को यथार्थ सिद्ध किया। इस कठिन तपस्या के कारण वड़गच्छ का 'तपागच्छ' नाम हुआ और वे तपागच्छ के आदि सूत्रधार कहलाये। मन्त्रीश्वर वस्तुपाल ने गच्छपरिवर्तन के समय श्री जगच्चन्द्र-सूरीश्वर की वहुत अर्चा-पूजा की। श्री जगच्चन्द्रसूरि तपस्वी ही न थे, किन्तु वे प्रतिभाशाली भी थे; क्योंकि गुर्वावली मे यह वर्णन है कि उन्होंने चित्तौड़ की राजधानी अघाट (अहड़) नगर में ३२ दिगम्बरवादियों के साथ वाद किया था और उसगें वे हीरे के समान अभेद्य रहे थे। इस कारण चित्तौड़ नरेश की ओर से उनको 'हीरत्य' की पदवी (गुर्वावलि पद्य ८८ [illegible]) मिली थी। उनकी कठिन तपस्या, शुद्ध बुद्धि और [illegible] चारित्र के लिए यही प्रमाण वस है कि उनके [illegible]

---

* यथा श्री हीरविजयसूरि, श्रीमद् [illegible] यशोविजयगणि, श्रीमद् न्यायाम्भोनिधि [illegible] आदि

तपागच्छ के पाट पर आज तक * ऐसे विद्वान्, क्रियातत्पर और शासन प्रभावक आचार्य्य बराबर होते आये है कि जिनके सामने बादशाहों ने, हिन्दू नरपतियों ने और बड़े-बड़े विद्वानों ने सिर झुकाया है।

परिवार—श्री देवेंद्रसूरि का परिवार कितना बड़ा था, इसका स्पष्ट खुलाला तो कही देखने में नहीं आया, पर (पद्य १५३ में) इतना लिखा मिलता है कि अनेक संविग्न मुनि, उनके आश्रित थे। गुर्वावली में उनके दो शिष्य—श्री विद्यानन्द और श्रीधर्मकीर्ति का उल्लेख है। ये दोनों भाई थे। 'विद्यानन्द' नाम, सूरिपद के पीछे का है। इन्होंने 'विद्यानन्द' नाम का व्याकरण बनाया है। धर्मकीर्ति उपाध्याय ने, जो सूरिपद लेने के बाद 'धर्मघोष' नाम से प्रसिद्ध हुए, उन्होने भी कुछ ग्रन्थ रचे है। ये दोनों शिष्य, अन्य शास्त्रों के अतिरिक्त जैनशास्त्र के अच्छे विद्वान् थे। इसका प्रमाण, उनके गुरु श्री देवेन्द्रसूरि की कर्मग्रन्थ की वृत्ति के अन्तिम पद्य से मिलता है। उन्होंने लिखा है कि 'मेरी बनाई हुई इस टीका को श्री विद्यानन्द और श्रीधर्मकीर्त्ति, दोनों विद्वानो ने शोधा है।' इन दोनों का विस्तृत वृत्तान्त 'जैनतत्त्वादर्श के १२ वें परिच्छेद मे दिया है।

ग्रन्थ—श्री देवेन्द्रसूरि के कुछ ग्रन्थ, जिसका हाल मालूम हुआ है, उनके नाम नीचे लिखे जाते है—१ श्राद्धदिन कृत्य सूत्रवृत्ति, २ सटीक पांच नवीन कर्म ग्रथ, ३ सिद्धपंचाशिका सूत्रवृत्ति, ४ धर्मरत्नवृत्ति, ५ सुदर्शनचरित्र, ६ चैत्यवदनादि भाष्यत्रय, ७ वदारुवृत्ति, ८ सिरिउसहवद्धमाण प्रमुख स्तवन, ९ सिद्धदण्डिका, १० सारवृत्तिदशा।

इनमे से प्रायः बहुत ग्रन्थ जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर', 'आत्मानन्द-सभा भावनगर', और देवचंद-लालाभाई पुस्तकोद्धार-फन्ड सूरत' की ओर से छप चुके हैं।

॥ जय नानेश ॥

श्री देवेन्द्रसूरि विरचित कर्मविपाक नामक

प्रथम कर्मग्रन्थ

मङ्गल और कर्मका स्वरुप :-

सिरि वीरजिणं वंदिय, कम्मविवागं समासओ वुच्छं ।
कीरइ जिएण हेउहिं, जेणं तो भण्णए कम्मं ॥ १ ॥

मै (सिरिवीरजिणं) श्री वीर जिनेन्द्र को (वंदिय) नमस्कार करके (समासओ) सक्षेप से (कम्मविवागं) कर्मविपाक नामक ग्रन्थ को (वुच्छं) कहूँगा, (जेणं) जिस कारण, (जिएण) जीव के द्वारा (हेउहि) हेतुओं से मिथ्यात्व, कषाय आदि से (कीरइ) किया जाता है-अर्थात् कर्मयोग्य पुद्गलद्रव्य अपने-अपने प्रदेशों के साथ मिला लिया जाता है (तो) इसलिये वह आत्मसम्बद्ध पुद्गलद्रव्य, (कम्मं) कर्म (भण्णए) कहलाता है ॥१॥

भावार्थ-राग द्वेषके जीतनेवाले श्री महावीर को नमस्कार करके कर्म के अनुभव का जिसमें वर्णन है, ऐसे कर्म विपाक नामक ग्रन्थ को संक्षेप से कहूँगा। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग-इन हेतुओं से जीव, कर्मयोग्य पुद्गलद्रव्य को अपने आत्म प्रदेशों के साथ बांध लेता है इसलिये आत्मसम्बद्ध पुद्गल-द्रव्यको कर्म कहते है।

श्री वीर-श्री शब्द का अर्थ है लक्ष्मी, उसके दो भेद है,

अन्तरंग और बाह्य । अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंत-वीर्य आदि आत्मा के स्वाभाविक गुणों को अन्तरंगलक्ष्मी कहते है । १ अशोक वृक्ष, २ सुरपुष्पवृष्टि, ३ दिव्यध्वनि, ४ चामर, ५ आसन, ६ भामण्डल, ७ दुन्दुभि, और ८ आतपत्र ये आठ महा-प्रातिहार्य है, इनको बाह्यलक्ष्मी कहते है ।

जिन–मोह, राग, द्वेष, काम, क्रोध, आदि अन्तरग शत्रुओ को जीतकर जिसने अपने अनंतज्ञान, अनंतदर्शन आदि गुणों को प्राप्त कर लिया हैं, उसे "जिन" कहते है ।

कर्म–पुद्गल उसे कहते है, जिसमे रुप, रस, गन्ध, और स्पर्श हों, पृथ्वी, पानी, आग और हवा, पुद्गल से बने है । जो पुद्गल, कर्म वनते है, वे एक प्रकार की अत्यन्त सूक्ष्म रज अथवा धूलि है जिसको इंद्रिया, यन्त्र की मदद से भी नही जान सकती । सर्वज्ञ परमात्मा अथवा परम अवधिज्ञान वाले योगी ही उस रज को देख सकते हैं, जीव के द्वारा जब वह रज, ग्रहण की जाती है तब उसे कर्म कहते है ।

शरीर में तेल लगाकर कोई धूलि मे लोटे, तो धूलि उसके शरीर में चिपक जाती है, उसी प्रकार मिथ्यात्व, कपाय, योग आदि से जीव के प्रदेशों में जव परिस्पंद होता है-अर्थात हल चल होती है, तव, जिस आकाश मे आत्मा के प्रदेश है, वही के, अनंत कर्मयोग्य पुद्गलपरमाणु, जीव के एक २ प्रदेश के साथ वन्ध जाते है । इस प्रकार जीव और कर्म का आपस मे वन्ध होता ै । दूध और पानी का तथा आग का और लोहे के गोले का े सम्वन्ध होता है उसी प्रकार जीव और पुद्गल का सम्वन्ध ता है ।

कर्म और जीव का अनादि काल से सम्वन्ध चला आ रहा । पुराने कर्म अपना फल देकर आत्मप्रदेशों से जुदे हो जाते है

और नये कर्म प्रति समय बन्धते जाते है। कर्म और जीव का सादि सम्वन्ध मानने से यह दोष आता है कि "मुक्त जीवों को भी कर्मबन्ध होना चाहिये"।

कर्म और जीव का अनादि-अनंत तथा अनादि सांत दो प्रकार का सम्बध है। जो जीव मोक्ष पा चुके है या पावेगे उनका कर्म के साथ अनादि-सान्त सम्बध है, और जिनका कभी मोक्ष न होगा उनका कर्म के साथ अनादि-अनत सम्वध है। जिन जीवो मे मोक्ष पाने की योग्यता है उन्हे भव्य, और जिनमें योग्यता नही है उन्हे अभव्य कहते है।

जीव का कर्म के साथ अनादि काल से सम्वन्ध होने पर भी जव जन्म-मरण-रुप ससार से छूटने का समय आता है तव जीव को विवेक उत्पन्न होता है- अर्थात् आत्मा और जड़ की भिन्नता मालूम हो जाती है। तप-ज्ञान-रुप अग्नि के वल से वह सम्पूर्ण कर्ममल को जलाकर शुद्ध सुवर्ण के समान निर्मल हो जाता है। यही शुद्ध आत्मा ईश्वर है, परमात्मा है अथवा ब्रह्म है।

श्री शकराचार्य भी उक्त अवस्था मे पहुचे हुये जीव को परब्रह्म-शब्द से स्मरण करते है :—

प्राक्कर्म्म प्रविलाप्यतां चितिबलान्नाप्युत्तरैः श्लिष्यतां।
प्रारब्धं त्विह भुज्यतामथ परब्रह्मात्मना स्थीयताम् ॥

अर्थात् ज्ञानवल से पहले वाधे हुये कर्मो को गला दो, नये कर्मों का वन्ध मत होने दो और प्रारब्ध कर्म को भोगकर क्षीण कर दो, इसके वाद पर ब्रह्मस्वरुप से अनत काल तक वने रहो। पुराने कर्मो के गलाने को "निर्जरा" और नये कर्मो का वन्ध न होने देने को "सवर" कहते है।

जव तक शत्रु का स्वरुप समझ मे नही आता तब तक उस

पर विजय पाना असम्भव है। कर्म से वढकर कोई शत्रु नही है जिस ने आत्मा की अखण्ड शान्ति का नाश किया है। अतएव उस शान्ति की जिन्हे चाह है, वे कर्म का स्वरूप जाने भगवान वीर की तरह कर्म शत्रु का नाश कर अपने असली स्वरूप को प्राप्त करे और अपनी 'वेदाहमेतं परम महान्तमादित्यवर्ण तमस. परस्तात' की दिव्यध्वनि को सुनाते रहें। इसी के लिये कर्म ग्रन्थ वने हुये है।

कर्म बन्ध के चार भेद तथा मूल उत्तर प्रकृतियों की सख्या.–

पयइठिइरसपएसा तं चउहा मोयगस्स दिट्ठंता।
मूलपगइट्ठउत्तर पगई अडवन्नसयमेयं ॥ २ ॥

(त) वह कर्म बन्ध (मोयगस्स) लड्डु के (दिट्ठंता) दृष्टात मे (पयइठिइर सपएसा) प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश की अपेक्षा से (चउहा) चार प्रकार का है (मूलपगइठ्ठ) मूल प्रकृतिया आठ और (उत्तर पगई अडवन्न सयमेय) उत्तर प्रकृतियां एक सौ अट्टावन १५८ है ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रथम गाथा मे कर्म का स्वरूप कहा गया है, उस के वन्ध के चार भेद है–१ प्रकृति वन्ध, २ स्थिति वध, ३ रस वध और ४ प्रदेश वध। इन चार भेदो को समझने के लिये लड्डु का दृष्टांत दिया गया है। कर्म की मूल प्रकृतिया ८ और उत्तर प्रकृतियां १५८ हैं।

१–जीव के द्वारा ग्रहण किये हुये कर्म पुद्गलों में भिन्न स्वभावों का अर्थात् शक्तियो का पैदा होना, प्रकृति वन्ध कहलाता है।

२–जीव के द्वारा ग्रहण किये हुये कर्म पुद्गलों में अमुक काल तक अपने स्वाभावो को त्याग न कर जीव के साथ रहने की काल मर्यादा का होना, स्थिति वध कहलाता है।

३-जीव के द्वारा ग्रहण किये हुये कर्मपुद्गलों में रस के तरतमभावका, अर्थात् फल देने की न्यूनाधिक शक्ति का होना, रसबन्ध कहलाता है। रसबन्ध को अनुभागबन्ध और अनुभवबन्ध भी कहते है।

४-जीव के साथ, न्यूनाधिक परमाणु वाले कर्मस्कन्धो का सम्बन्ध होना, प्रदेशबन्ध कहलाता है। इस विषय का एक श्लोक इस प्रकार है —

स्वभावः प्रकृतिः प्रोक्तः, स्थितिः कालावधारणम् ।

अनुभागो रसो ज्ञेयः, प्रदेशो दलसञ्चयः ॥

अर्थात्-स्वभाव को प्रकृति कहते है, काल की मर्यादा को स्थिति, अनुभाग को रस और दलो की संख्या को प्रदेश कहते है।

दृष्टात और दार्ष्टान्तिक मे प्रकृति आदि का स्वरूप इस प्रकार समझना चाहिये.—

वातनाशक पदार्थों से-सोठ, मिर्च, पीपल आदि से बने हुये लड्डुओ का स्वभाव जिस प्रकार वायु के नाश करने का है, पित्त-नाशक पदार्थों से बने हुये लड्डुओं का स्वभाव जिस प्रकार पित्त के दूर करने का है, कफनाशक पदार्थो से बने हुये लड्डुओ का स्वभाव जिस प्रकार कफ के नष्ट करने का है, उसी प्रकार आत्मा के द्वारा ग्रहण किये हुये कुछ कर्म पुद्गलों में आत्मा के ज्ञान गुण के घात करने की शक्ति उत्पन्न होती है, कुछ कर्म पुद्गलों मे आत्मा के दर्शनगुणों को ढक देने की शक्ति पैदा होती है, कुछ कर्म-पुद्गलो में आत्मा के आनन्द गुण को छिपा देने की शक्ति पैदा होती है; कुछ कर्मपुद्गलो मे आत्मा की अनन्त सामर्थ्य को दबा देने की शक्ति पैदा होती है, इस तरह भिन्न भिन्न कर्मपुद्गलों में, भिन्न भिन्न-प्रकार की प्रकृतियों के अर्थात् शक्तियों के बन्ध को अर्थात् उत्पन्न होने को प्रकृतिबन्ध कहते है।

कुछ लड्डु एक सप्ताह तक रहते है, कुछ लड्डु एक पक्ष तक, कुछ लड्डु एक महीने तक, इस तरह लड्डुओं की जुदी-जुदी काल मर्यादा होती है, काल मर्यादा को स्थिति कहते है, स्थिति के पूर्ण होने पर, लड्डू अपने स्वभाव को छोड़ देते है अर्थात् बिगड जाते है, इसी प्रकार कोई कर्म दल आत्मा के साथ सत्तर क्रोडा क्रोडी सागरोपम तक, कोई कर्म दल बीस क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम तक; कोई कर्म दल अन्तर्मुहूर्त तक रहते है, इस तरह जुदे-जुदे कर्म दलों में, जुदी-जुदी स्थितियों को अर्थात् अपने स्वभाव को त्याग न कर आत्मा के साथ बने रहने की काल मर्यादाओ का बन्ध अर्थात् उत्पन्न होना, स्थिति बन्ध कहलाता है। स्थिति के पूर्ण होने पर कर्म दल अपने स्वभाव को छोड़ देते है—आत्मा से भिन्न हो जाते है।

कुछ लड्डुओं मे मधुर रस अधिक, कुछ लड्डुओं मे कम, कुछ लड्डुओ में कटुरस अधिक, कुछ लड्डुओं में कम, इस तरह मधुर कटु आदि रसों की न्यूनाधिकता देखी जाती है; उसी प्रकार कुछ कर्म दलो मे शुभ रस अधिक, कुछ कर्म दलो मे कम, कुछ कर्म दलो मे अशुभ रस अधिक, कुछ कर्म दलो में कम, इस तरह विविध प्रकार के अर्थात् तीव्र तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द मन्दतर, मन्दतम शुभ अशुभ रसो का कर्म पुद्गलों में बन्धना अर्थात् उत्पन्न होना, रस बन्ध कहलाता है।

शुभ कर्मो का रस, ईख द्राक्षादि के रस के सदृश मधुर होता है जिसके अनुभव से जीव खुश होता है। अशुभ कर्मो का रस, नीम आदि क रस के सदृश कड़ुआ होता है, जिसके अनुभव से जीव बुरी तरह घबरा उठता है। तीव्र, तीव्रतर तीव्रतम आदि को समझने [illegible] लिये दृष्टांतर के तौर पर ईख या नीम का चार-चार सेर रस [illegible] जाय। इस रस को स्वाभाविक रस कहना चाहिये। आच

के द्वारा औटाकर चार सेर की जगह तीन सेर बच जाय तो उसे तीव्र कहना चाहिये और औटाने से दो सेर बच जाय तो तीव्रतर कहना चाहिये और औटा कर एक सेर बच जाय तो तीव्रतम कहना चाहिये । ईख या नीम का एक सेर स्वाभाविक रस लिया जाय उसमे एक सेर पानी के मिलाने से मन्द रस बन जायगा, दो सेर पानी के मिलाने से मन्दतर रस बनेगा, तीन सेर पानी के मिलाने से मन्दतम रस वनेगा ।

कुछ लड्डुओ का परिमाण दो तोले का, कुछ लड्डुओं का छटाक का और कुछ लड्डुओं का परिमणा पाव भर का होता है। उसी प्रकार कुछ कर्म दलो मे परमाणुओ की सख्या अधिक और कुछ कर्म दलों मे कम । इस तरह भिन्न-भिन्न प्रकार के परमाणु सख्याओं से युक्त कर्म दलों का आत्मा से सम्बन्ध होना, प्रदेशवन्ध कहलाता है ।

सख्यात, असख्यात अथवा अनन्त परमाणुओं से बने हुए स्कन्ध को जीव ग्रहण नहीं करता किन्तु अनन्तानन्त परमाणुओं से बने हुए स्कन्ध को ग्रहण करता है ।

मूलप्रकृति—कर्मो के मुख्य भेदों को मूलप्रकृति कहते है ।

उत्तरप्रकृति—कर्मो के अवान्तर भेदों को उत्तरप्रकृति कहते है ।

कर्म की मूलप्रकृतियों के नाम और हर एक मूलप्रकृति के अवान्तर भेदो की–उत्तर भेदो की संख्या.—

इह नाणदंसणावरणवेयमोहाउनामगोयाणि ।
विग्घं च पणनवदुअट्ठवीसचउतिसयदुपणविहं ।।३।।

(इह) इस शास्त्र मे (नाणदंसणावरणवेय मोहाउनाम-

गोयाणि) ज्ञानवरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र (च) और (विग्घं) अन्तराय, ये आठ कर्म कहे जाते है। इनके क्रमशः (पणवन दुअठ्ठवीस चउतिस यदुपणविह) पांच, नव, दो, अठ्ठाईस, चार, एक सौ तीन, दो और पाच भेद है ॥३॥

भावार्थ—आठ कर्मो के नाम ये है—१ ज्ञानावरणीय, २ दर्शनावरणीण, ३ वेदनीय, ४ मोहनीय, ५ आयु, ६ नाम, ७ गोत्र और ८ अन्तराय। पहले कर्म के उत्तर भेद पाच, दूसरे के नव, तीसरे के दो, चौथे के अट्ठाईस, पाचवे के चार, छठे के एक सौ तीन, सातवे के दो और आठवे के उत्तर भेद पाच है। इस प्रकार आठो कर्मो के उत्तर भेदों की संख्या १५८ होती है।

चेतना आत्मा का गुण है, उसके (चेतना के) पर्याय को उपयोग कहते है। उपयोग के दो भेद है–ज्ञान और दर्शन। ज्ञान को साकार उपयोग कहते है और दर्शन को निराकार उपयोग। जो उपयोग पदार्थो के विशेष धर्मो का–जाति, गुण, क्रिया आदि का ग्राहक है, वह ज्ञान कहा जाता है और जो उपयोग पदार्थो के सामान्य धर्म का अर्थात् सत्ता का ग्राहक है, उसे दर्शन कहते है।

१–जो कर्म, आत्मा के ज्ञानगुण को आच्छादित करे–ढक देवे, उसे ज्ञानावरणीय कहा जाता है।

२–जो कर्म आत्मा के दर्शन गुण को आच्छादित करे, वह दर्शनावरणीय कहा जाता है।

३–जो कर्म आत्मा को सुख दु ख पहुचावे, वह वेदनीय कहा जाता है।

४–जो कर्म स्व पर विवेक में तथा स्वरूपरमण में बाधा पहुचाता है, वह मोहनीय कहा जाता है। अथवा–जो कर्म आत्मा के सम्यक्त्व गुण का और चरित्र गुण का घात करता है, उसे [illegible]नीय कहते है।

५–जिस कर्म के अस्तित्व से (रहने से) प्राणी जीता है तथा क्षय होने से मरता है, उसे आयु कहते है।

६–जिस कर्म के उदय से जीव नारक, तिर्यञ्च आदि नामो से सम्बोधित होता है अर्थात् अमुक जीव नारक है, अमुक तिर्यञ्च है, अमुक मनुष्य है, अमुक देव है, इस प्रकार कहा जाता है, उसे नाम कहते है।

७–जो कर्म, आत्मा को उच्च तथा नीच कुल में जन्मावे उसे गोत्र कहते है।

८–जो कर्म आत्मा के वीर्य, दान, लाभ, भोग और उपभोग रूप शक्तियों का घात करता है, वह अन्तराय कहा जाता है।

ज्ञानावरणीय की पांच उत्तर प्रकृतियों को कहने के लिये पहले ज्ञान के भेद दिखलाते हैं:—

मइसुयओहीमण केवलाणि नाणाणि तत्थ मइनाणं ।
वंजणवग्गहचउहा मणनयणविणिंदियचउक्का ॥४॥

(मइसुयओहीमण केवलाणि) मति, श्रुत, अवधि, मन. पर्यव और केवल ये पाच (नाणाणि) ज्ञान है। (तत्थ) उनमें पहला (मइनाण) मतिज्ञान अट्ठाईस प्रकार का है, सो इस प्रकार—(मणनयणाविणिदियचउक्का) मन और आंख के सिवा, अन्य चार इद्रियों को लेकर (वजणवग्गह) व्यञ्जनावग्रह (चउहा) चार प्रकार का है ॥ ४ ॥

भावार्थ–अब आठ कर्मो की उत्तर प्रकृतियां क्रमशः कही जायेगी। प्रथम ज्ञानावरणीय कर्म है, उसकी उत्तर प्रकृतियां को समझाने के लिये ज्ञान के भेद दिखाते है, क्योंकि ज्ञान के समझ में आ जाने से, उनके आवरण सरलता से समझ

सकते है । ज्ञान के मुख्य भेद पांच है, उनके नाम १ मतिज्ञान, २ श्रुतज्ञान, ३ अवधिज्ञान ४ मन.पर्यायज्ञान और ५ केवलज्ञान। इन पांचों के हर एक के अवांतर भेद अर्थात उत्तर भेद है। मतिज्ञान के अट्ठाईस भेद है । चार इस गाथा मे कहे गये, बाकी के अगली गाथा में कहे जायेगे । इस गाथा में कहे हुए चार भेदो के नाम यह है-स्पर्शनेन्द्रिय व्यंजनावग्रह, घ्राणेन्द्रिय व्यञ्जनावग्रह, रसनेद्रिय व्यजनावग्रह और श्रवणेद्रिय व्यञ्जनावग्रह । आंख और मन से व्यञ्जनावग्रह नही होता । कारण यह है कि आख और मन, ये दोनों पर्दार्थो से अलग रहकर ही उनको ग्रहण करते है, और व्यजनावग्रह मे तो इद्रियों का पदार्थो के साथ सयोग सम्वध का होना आवश्यक है । आख और मन "अप्राप्यकारी" कहलाते है, और अन्य इद्रिया 'प्राप्यकारी' । पदार्थो से मिलकर उनको ग्रहण करने वाली इद्रिया प्राप्यकारी और पदार्थो से विना मिले ही उनको ग्रहण करने वाली इद्रियां अप्राप्यकारी है। तात्पर्य यह है कि, जो इद्रिया प्राप्यकारी है, उन्हीं से व्यञ्जनावग्रह होता है, अप्राप्यकारी से नही । आंखो में डाला हुआ अजन, आख से नही दीखता, और मन, शरीर के अन्दर रहकर ही वाहरी पदर्थो को ग्रहण करता है, अतएव ये दोनो प्राप्यकारी नही हो सकते ।

१-इन्द्रिय और मन के द्वारा जो ज्ञान होता है, उसे मति ज्ञान कहते है ।

२-शास्त्रों के वांचने तथा सुनने से जो अर्थ ज्ञान होता है, वह श्रुत ज्ञान है ।

अथवा—मति ज्ञान के अनन्तर होने वाला और शब्द तथा र्थ की पर्यालोचना जिसमे हो, ऐसा ज्ञान, श्रुत ज्ञान कहलाता । जैसे कि घट शब्द के सुनने पर अथवा आख से घड़ेके देखने

पर उसके बनाने वाले का, उसके रग का अर्थात् तत्सम्बन्धी भिन्न-भिन्न विपयो का विचार करना, श्रुत ज्ञान कहलाता है।

३-इन्द्रिय तथा मन की सहायता के बिना, मर्यादा को लिये हुए, रूप वाले द्रव्य का जो ज्ञान होता है उसे अवधिज्ञान कहते है।

४-इन्द्रिय और मन की मदद के बिना, मर्यादा को लिये हुए सज्ञी जीवो के मनोगत भावो को जानना, मन.पर्याय ज्ञान कहा जाता है।

५-ससार के भूत भविप्य तथा वर्तमान काल के सम्पूर्ण पदार्थो का युगपत् (एक साथ) जानना, केवल ज्ञान कहा जाता है।

आदि के दो ज्ञान मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान, निश्चय नयसे परोक्ष ज्ञान है और व्यवहार नयसे प्रत्यक्ष ज्ञान।

अन्त के तीन ज्ञान-अवधि ज्ञान, मन.पर्यय ज्ञान और केवल ज्ञान प्रत्यक्ष है। केवलज्ञान को सकल प्रत्यक्ष कहते है और अवधि ज्ञान तथा मन पर्ययज्ञान को देश प्रत्यक्ष।

आदि के दो ज्ञानों में इन्द्रिय और मन की अपेक्षा रहती है, किन्तु अन्त के तीन ज्ञानों मे इन्द्रिय, मन की अपेक्षा नही रहती।

व्यवञ्जनावग्रह--अव्यक्त ज्ञानरूप अर्थावग्रह से पहले होने वाला, अत्यन्त अव्यक्त ज्ञान, व्यञ्जनावग्रह कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियो का पदार्थ के साथ जब सम्बन्ध होता है तब "किमपीदम्" (यह कुछ है) ऐसा अस्पष्ट ज्ञान होता है उसे अर्थावग्रह कहते है। उससे पहले होने वाला, अत्यन्त अस्पष्ट ज्ञान, व्यञ्जनावग्रह कहलाता है। यह व्यञ्जनावग्रह पदार्थ की सत्ता के ग्रहण करने पर होता है अर्थात् प्रथम सत्ता की प्रतीति होती है, बाद मे व्यञ्जनावग्रह।

स्पर्शनेन्द्रिय व्यञ्जनाग्रह--स्पर्शन-इन्द्रिय के द्वारा जो

अत्यन्त अव्यक्त ज्ञान होता है, वह स्पर्शनेन्द्रिय व्यञ्जनावग्रह है। इसी प्रकार तीनों इन्द्रियों से होने वाले व्यञ्जनावग्रहो को भी समझना चाहिये।

व्यञ्जनावग्रह का जघन्य काल, आवलिका के असख्यातवे भाग जितना है और उत्कृष्ट काल श्वासोच्छवास पृथक्त्व अर्थात् दो श्वासोच्छवास से लेकर नव श्वासोच्छवास तक है।

मति ज्ञान के शेष भेद तथा श्रुत ज्ञान के उत्तर भेदों की सख्या.——

अत्थुग्गह ईहावायधारणा करणमाणसेहिं छहा।
इय अट्ठवीसभेयं चउदसहा वीसहा व सुयं ॥५॥

(अत्थुग्गहईहावाय धारण) अर्थावग्रह, ईहा, अपाय और धारण, ये प्रत्येक, (करणमाणसेहि) करण अर्थात् पाच इन्द्रिया और मन से होते है इसलिये (छहा) छ प्रकार है (इय) इस प्रकार मति ज्ञान के (अट्ठवीसभेय) अट्ठाईस भेद हुये (सुय) श्रुतज्ञान (चउदसहा) चौदह प्रकार का (व) अथवा (वीसहा) वीस प्रकार का है ॥ ५॥

भावार्थ——मति के अट्ठाईस भेदों मे से चार भेद पहले कह चुके हैं। अव शेप चौवीस भेद यहां दिखलाते हैः—१ अर्थावग्रह, २ इहा, ३ अपाय और ४ धारणा, ये चार, मति ज्ञान के भेद है। ये चारो, पाचों इन्द्रियों से तथा मन से होते है, इसलिये प्रत्येक के छ २ भेद हुये। छ. को चार से गुणने पर चौवीस सख्या हुई। श्रुतज्ञान के चौदह भेद होते है और वीस भेद भी होते है।

१—पदार्थ के अव्यक्त ज्ञान को अर्थावग्रह कहते है, जैसे 'यह कुछ है।' अर्थावग्रह मे भी पदार्थ के वर्ण गन्ध आदि का ज्ञान

नही होता । इसके छह भेद है–१ स्पर्शनेन्द्रिय अर्थावग्रह, २ रसनेन्द्रिय अर्थावग्रह, ३ घ्राणेन्द्रिय अर्थावग्रह, ४ चक्षुरिन्द्रिय अर्थावग्रह, ५ श्रोत्रेन्द्रिय अर्थावग्रह और ६ मननोइन्द्रिय अर्थावग्रह। अर्थावग्रह का काल प्रमाण एक समय है ।

२–अवग्रह से जाने हुये पदार्थ के विषय मे धर्म-विषयक विचारणा को ईहा कहते है, जैसे कि 'यह खम्भा ही होना चाहिये, मनुष्य नही ।' ईहा के भी छह भेद है:—स्पर्शनेन्द्रिय ईहा, रसनेन्द्रिय ईहा इत्यादि । इस प्रकार आगे अपाय और धारणा के भेदो को समझना चाहिये । ईहा का काल, अन्तर्मुहूर्त है ।

३–ईहा से जाने हुये पदार्थ के विषय मे 'यह खम्भा ही है, मनुष्य नही' इस प्रकार के धर्म विषयक निश्चयात्मक ज्ञान को अपाय कहते है । अपाय और अवाय दोनों का मतलब एक ही है । अपाय का काल-प्रमाण अन्तर्मुहूर्त है ।

४–अपाय से जाने हुये पदार्थ का कालान्तर में विस्मरण न हो ऐसा जो दृढ ज्ञान होता है उसे धारणा कहते है अर्थात् अपाय मे जाने हुये पदार्थ का कालान्तर में स्मरण हो सके, इस प्रकार के सस्कार वाले ज्ञान को धारणा कहते है । धारणा का काल प्रमाण सख्यात तथा असंख्यात वर्षो का है ।

मति ज्ञान को अभिनिबोधिक ज्ञान भी कहते है । जाति स्मरण अर्थात् पूर्व जन्म का स्मरण होना, वह भी मति ज्ञान ही है । ऊपर कहे हुये अट्ठाईस प्रकार के मति ज्ञान के हर एक के बारह-बारह भेद होते है, जैसे–१ बहु, २ अल्प, ३ बहुविध, ४ एकविध, ५ क्षिप्र, ६ चिर, ७ अनिश्रित, ८ निश्रित, ९ सन्दिग्ध १० असन्दिग्ध, ११ ध्रुव और १२ अध्रुव । शख, नगाडे आदि कई वाद्यो के शब्दों मे से क्षयोपशम की विचित्रता के कारण, १

कोई जीव बहुत से वाद्यो के पृथक्-पृथक् शब्द सुनता है, कोई २ जीव अल्प शब्द को सुनता है; ३ कोई जीव प्रत्येक वाद्य के शब्द के, तार मन्द्र आदि बहुत प्रकार के विशेषों को जानता है, ४ कोई साधारण तौर से एक ही प्रकार के शब्द को सुनता है, ५ कोई जल्दी से सुनता है, ६ कोई देरी से सुनता है, ७ कोई ध्वजा के द्वारा देव मन्दिर को जानता है, ८ कोई विना पताका के ही उसे जानता है, ९ कोई संशय सहित जानता है, १० कोई बिना संशय के जानता है, ११ किसी को जैसा पहिले ज्ञान हुआ था वैसा ही पीछे भी होता है; उसमे कोई फर्क नही होता, उसे ध्रुव ग्रहण कहते है, १२ किसी के पहले तथा पीछे होने वाले ज्ञान मे न्यूनाधिक रुप फर्क हो जाता है, उसे अध्रुवग्रहण कहते है। इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय के अवग्रह, ईहा, अपाय आदि के भेद समझना चाहिये। इस तरह श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के २८ को १२ से गुण ने पर ३३६ भेद होते है। अश्रुतनिश्रित मति ज्ञान के चार भेद हैं। उनको ३३६ में मिलाने से मति ज्ञान के ३४० भेद होते है। अश्रुतनिश्रित के चार भेद–१ औत्पाति की बुद्धि, २ वैनयिकी, ३ कार्मिकी और ४ पारिणामिकी।

(१) औत्पातिकी बुद्धि–किसी प्रसंग पर, कार्य सिद्ध करने में एकाएक प्रकट होती है।

(२) वैनयिकी–गुरुओं की सेवा से प्राप्त होने वाली बुद्धि।

(३) कामिकी–अभ्यास करते करते प्राप्त होने वाली बुद्धि।

(४) परिणामिकी–दीर्घायु को बहुत काल तक संसार के अनुभव से प्राप्त होने वाली बुद्धि।

श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के अट्ठाईस भेदों का यन्त्र

स्पर्शन-इद्रिय	घ्राण इद्रिय	सरन इद्रिय	श्रवण इद्रिय	चक्षु.-इद्रिय	मन-नोइद्रिय	२८
१ व्यञ्जन अवग्रह	१ व्यञ्जन. अवग्रह	१ व्यञ्जन. अवग्रह	१ व्यञ्जन अवग्रह	०	०	४
२ अर्थ अवग्रह	२ अर्थ-अवग्रह	२ अर्थ-अवग्रह	२ अर्थ-अवग्रह	१ अर्थ-अवग्रह	१ अर्थ-अवग्रह	६
३ ईहा	३ ईहा	३ ईहा	३ ईहा	२ ईहा	२ ईहा	६
४ अपाय	४ अपाय	४ अपाय	४ अपाय	३ अपाय	३ अपाय	६
५ धारणा	५ धारणा	५ धारणा	५ धारणा	४ धारणा	४ धारणा	६

श्रुतज्ञान के चौदह भेदः-

अक्खर सन्नी सम्मं साइअं खलु सपज्जवसियं च ।
गमियं अंगपविट्ठं सत्तवि एए सपडिवक्खा ॥ ६ ॥

(अक्खर) अक्षरश्रुत, (सन्नी) संज्ञिश्रुत, (सम्मं) सम्यक्श्रुत, (साईअं) सादिश्रुत (च) और (सपज्जवसिय) सपर्यवसितश्रुत (गमियं) गमिकश्रुत और (अंगपविट्ठं) अंगप्रविष्टश्रुत (एए) ये (सत्तवि सातों श्रुत (सपडिवक्खा) सप्रतिपक्ष है ॥ ६ ॥

भावार्थ–पहले कहा गया है कि श्रुतज्ञान के चौदह अथवा बीस भेद होते है। यहा चौदह भेदों को कहते है। गाथा में सात भेदों के नाम दिये है, उनसे अन्य सात भद, सप्रतिपक्ष शब्द से लिये जाते है। जैसे कि अक्षरश्रुत का प्रतिपक्षी अनक्षरश्रुत, सज्ञिश्रुत का प्रतिपक्षी असज्ञिश्रुत इत्यादि। चौदहों नाम ये हैं–

१ अक्षरश्रुत, २ अनक्षरश्रुत, ३ सज्ञिश्रुत, ४ असज्ञिश्रुत, ५ सम्यक्श्रुत, ६ मिथ्याश्रुत, ७ सादिश्रुत, ८ अनादिश्रुत, ९ सपर्यवसितश्रुत, १० अपर्यवसिश्रुत, ११ गमिकश्रुत, १२ अगमिकश्रुत, १३ अंगप्रविष्टश्रुत, और १४ अगबाह्यश्रुत।

१–अक्षर के तीन भेद है, १ सज्ञाक्षर, २ व्यजनाक्षर और ३ लब्ध्यक्षर। जुदी लिपिया जो लिखने के काम में आती है उनको संज्ञाक्षर कहते है। अकार से लेकर हकार तक के वर्ण जो उच्चारण के काम मे आते है, उनको व्यजनाक्षर कहते है अर्थात् जिनका बोलने मे उपयोग होता है, वे वर्ण व्यंजनाक्षर कहलाते है। संज्ञाक्षर और व्यंजनाक्षर से भाव श्रुत होता है, इसलिये इन दोनो को द्रव्य श्रुत कहते हैं। शब्द के सुनने या रुप के देखने आदि से, अर्थ को प्रतीति के साथ २ जो अक्षरों का ज्ञान होता है, उसे लब्ध्यक्षर कहते है।

२–छीकना, चुटकी बजाना, सिर हिलाना इत्यादि संकेतोसे औरों का अभिप्राय जानना अनक्षर श्रुत है।

३–जिन पञ्चेन्द्रिय जीवों को मन है, वे संज्ञी, उनका श्रुत, सज्ञिश्रुत है।

सज्ञी का अर्थ है संज्ञा जिनको हो। संज्ञा के तीन भेद है.–दीर्घकालिकी, हेतुवादोपदेशिकी और दृष्टिवादोपदेशिकी।

(क) मैं अमुक काम कर चुका, अमुक काम कर रहा हूँ और अमुक काम करुंगा, इस प्रकार का भूत, वर्तमान औ भवि-

ध्यत् का ज्ञान ज़िससे होता है, वह दीर्घकालिकी संज्ञा है। सज्ञि श्रुत में जो सज्ञी लिये जाते है, वे दीर्घकालिकी संज्ञा वाले है। यह सज्ञा, देव नारक तथा गर्भज तिर्यञ्च मनुष्यों को होती है।

(ख) अपने शरीर के पालन के लिये इष्ट वस्तु में प्रवृत्ति और अनिष्ठ वस्तु से निवृति के लिये उपयोगी, मात्र वर्तमान कालिक ज्ञान जिससे हौता है, वह हेतुवादोपदेशिकी सज्ञा है। यही सज्ञा द्वीन्द्रिय आदि असज्ञी जीवों को होती है।

(ग) दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा, चतुर्दशपूर्वधर को होती है।

४–जिन जीवों को मन ही नही है, वे असज्ञी है; उनका श्रुत, असज्ञीश्रुत कहा जाता है।

५–सम्यक्श्रुत-सम्यग्दृष्टि जीवों का श्रुत सम्यक्श्रुत है।

६–मिथ्यादृष्टि जीवों का श्रुत, मिथ्याश्रुत है।

७–सादिश्रुत–जिसका आदि हो वह सादिश्रुत है।

८–अनादिश्रुत–जिसका आदि न हो, वह अनादिश्रुत है।

९–सपर्यवसितश्रुत–जिसका अन्त हो, वह सपर्यवसित-श्रुत है।

१०–अपर्यवसितश्रुत–जिसका अन्त न हो, वह अपर्य-वसितश्रुत है।

११–गमिकश्रुत–जिसमें एक सरीखे पाठ हो वह गमिक-श्रुत है। जैसे दृष्टिवाद।

१२–अगमिकश्रुत–जिसमें एक सरीखे पाठ न हों, वह अगमिकश्रुत है। जैसे कालिकश्रुत।

१३–अङ्गप्रविष्टश्रुत–आचाराङ्ग आदि वारह अंगों के ज्ञान को अङ्गप्रविष्टश्रुत कहते है।

१४–अङ्गबाह्यश्रुत–द्वादशाङ्गी से जुदा, दशवैकालिक-उत्तराध्ययन–प्रकटणादिका ज्ञान, अङ्गबाह्यश्रुत कहा जाता है।

सादिश्रुत, अनादिश्रुत, सपर्यवसितश्रुत और अपर्यवसित-श्रुत–ये प्रत्येक, द्रव्य–क्षेत्र काल–भाव की अपेक्षा से चार-चार प्रकार के है। जैसे–द्रव्य को लेकर एक जीव की अपेक्षा से श्रुत-ज्ञान, सादि–सपर्यवसित है अर्थात् जब जीव को सम्यक्त्व प्राप्त हुआ, तब साथ में श्रुतज्ञान भी हुआ, और जब वह सम्यक्त्व का वमन (त्याग) करता है तब, अथवा केवली होता है तब श्रुत-ज्ञान का अन्त हो जाता है। इस प्रकार एक जीव की अपेक्षा से श्रुतज्ञान, सादि-सान्त है।

सब जीवों की अपेक्षा से श्रुतज्ञान अनादि–अनन्त है, क्योकि ससार में पहले पहल अमुक जीव को श्रुतज्ञान हुआ तथा अमुक जीव के मुक्त होने से श्रुतज्ञान का अन्त होगा, ऐसा नही कहा जा सकता अर्थात् प्रवाह रूप से सब जीवों की अपेक्षा से श्रुतज्ञान अनादि-अनन्त है।

क्षेत्र की अपेक्षा से श्रुतज्ञान, सादि-सान्त तथा अनादि-अनन्त है। जब भरत तथा ऐरावत क्षेत्र में तीर्थ की स्थापना होती है, तब से द्वादशाङ्गी रूप श्रुत की आदि और जब तीर्थ का विच्छेद होता है, तव श्रुत का भी अन्त हो जाता है, इस प्रकार श्रुतज्ञान सादिसान्त हुआ। महाविदेह क्षेत्र में तीर्थ का विच्छेद कभी नही होता इसलिये वहा श्रुतज्ञान, अनादि-अनन्त है।

काल की अपेक्षा श्रुतज्ञान सादि-सान्त और अनादि-अनन्त है। उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल की अपेक्षा से श्रुतज्ञान सादि-सान्त है, क्योंकि तीसरे आरे के अन्त में और चौथे तथा पांचवें आरे में रहता है और छठे आरे मे नष्ट हो जाता है। नो उत्सर्पिणी-नो अवसर्पिणी काल की अपेक्षा से श्रुतज्ञान अनादि

अनंत है। महाविदेह क्षेत्र में नोउत्सपिणी-नोअवसर्पिणी काल है अर्थात् उक्त क्षेत्र उत्सपिणी-अवसर्पिणीरुप काल का विभाग नही है। भाव की अपेक्षा से श्रुतज्ञान सादि-सांत तथा अनादि अनंत है। भव्य की अपेक्षा से श्रुतज्ञान सादि सांत तथा अभव्य की अपेक्षा से कुश्रुत, अनादि-अनंत है। भव्यत्व और अभव्यत्व दोनों जीव के परिणामिक भाव है। यहां श्रुत शब्द से सम्य-क्श्रुत तथा कुश्रुत दोनों का अर्थ एक ही है। इसी तरह अपर्य-वसित और अनत दोनों अर्थ का एक है।

श्रुतज्ञान के बीस भेद—

पज्जय अक्खर पय संघाया पडिवत्ति तहय अणुओगो।
पाहुडपाहुड पाहुड वत्थू पुव्वा य ससमासा ॥ ७ ॥

(पज्जय) पर्यायश्रुत, (अक्खर) अक्षरश्रुत, (पय) पद-श्रुत, (सघाय) संघातश्रुत, (पडिवत्ति) प्रतिपत्तिश्रुत, (तहय) उसी प्रकार (अणुओगो) अनुयोगश्रुत, (पाहुडपाहुड) प्राभृत प्राभृतश्रुत, (पाहुड) प्राभृतश्रुत, (वत्थू) वस्तुश्रुत (य) ओर (पुव्य) पूर्वश्रुत, ये दसों (ससमासा) समास सहित है। अर्थात् दसो के साथ "समास" शब्द को जोड़ने से दूसरे दस भेद भी भी होते है ॥ ७ ॥

भावार्थ—इस गाथा मे श्रुतज्ञान के बीस भेद कहे गये है। उनके नाम:—१ पर्यायश्रुत, २ पर्यायसमासश्रुत, ३ अक्षरश्रुत ४ अक्षरसमासश्रुत, ५ पदश्रुत, ६ पदसमासश्रुत ७ संघातश्रुत, ८ संघातसमासश्रुत, ९ प्रतिपत्तिश्रुत, १० प्रतिपत्तिसमासश्रुत, ११ अनुयोगश्रुत, १२ अनुयोगसमासश्रुत, १३ प्राभृत-प्राभृतश्रुत, १४ प्राभृतप्राभृतसमासश्रुत, १५ प्राभृतश्रुत, १६ प्राभृतसमास-

श्रुत, १७ वस्तुश्रुत, १८ वस्तुसमासश्रुत, १६ पूर्वश्रुत, २० पूर्वसमासश्रुत ।

१–उत्पत्ति के प्रथम समय में, लब्धिअपर्याप्त, सूक्ष्म निगोद के जीव को जो कुश्रुत का अंश होता है, उससे दूसरे समय मे ज्ञान का जितना अंश बढता है, वह पर्यायश्रुत है ।

२–उक्त पर्यायश्रुत के समुदाय को अर्थात् दो, तीन, आदि सख्याओं को पर्यायसमासश्रुत कहते है ।

३–आकार आदि लब्ध्यक्षरोंमें से किसी एक अक्षर को अक्षरश्रुत कहते है ।

४–लब्ध्यक्षरो के समुदाय को अर्थात् दो, तीन आदि सख्याओं को अक्षरसमासश्रुत कहते है ।

५–जिस अक्षर समुदाय से पूरा अर्थ मालूम हो वह पद, और उसके ज्ञान को पदश्रुत कहते हे ।

६–पदों के समुदाय का ज्ञान पदसमासश्रुत है ।

७–गति आदि चौदह मार्गणाओ मे से, किसी एक मार्गणा के एक देश के ज्ञान को सङ्घातश्रुत कहते है । जैसे गति मार्गणा के चार अवयव है; देवगति, मनुष्यगति, तिर्यञ्चगति और नारकगति । इनमे से एक का ज्ञान संघातश्रुत है ।

८–किसी एक मार्गणा के अनेक अवयवों का ज्ञान, सघातसमासश्रुत है ।

६–गति, इद्रिय आदि द्वारों मे से किसी एक द्वार के जरिये समस्त ससार के जीवों को जानना, प्रतिपत्तिश्रुत है ।

१०–गति आदि दो चार द्वारों के जरिये जीवों का ज्ञान प्रतिपत्तिसमास श्रुत है ।

११–'सतपयपरुवणया दव्वपमाणं च' इस गाथा मे कहे हुये

अनुयोग द्वारों में से किसी एक के द्वारा जावादि प्रदार्थो को जानना अनुयोग श्रुत है।

१२–एक से अधिक दो तीन अनुयोग द्वारों का ज्ञान, अनुयोगसमासश्रुत है।

१३–दृष्टिवाद के अन्दर प्राभृत प्राभृत नामक अधिकार है, उनमें से किसी एक ज्ञान प्राभृत-प्राभृत श्रुत है।

१४–दो चार प्राभृत-प्राभृतों के ज्ञान को प्राभृत-प्राभृतसमासश्रुत कहते है।

१५–जिस प्रकार कई उद्देश्यो का एक अध्ययन होता है, वैसे ही कई प्राभृतप्राभृतों का एक प्राभृत होता है, उसका एक का ज्ञान, प्राभृतश्रुत है।

१६–एक से अधिक प्राभृतों का ज्ञान, प्राभृतसमास श्रुत है।

१७–कई प्राभृतों का एक वस्तु नामक अधिकार होता है। उसका एक का ज्ञान, वस्तुश्रुत है।

१८–दो चार वस्तुओं का ज्ञान, वस्तुसमासश्रुत है।

१९–अनेक वस्तुओं का एक पूर्व होता है। उसका एक का ज्ञान, पूर्वश्रुत है।

२०–दो चार यावत् चौदह पूर्वो का ज्ञान, पूर्वसमासश्रुत है।

चौदह पूर्वो के नाम ये है—१ उत्पाद, २ आग्रायणीय, ३ वीर्यप्रवाद, ४ अस्तिप्रवाद ५ ज्ञानप्रवाद, ६ सत्यप्रवाद ७ आत्मप्रवाद, ८ कर्मप्रवाद, ९ प्रत्याख्यानप्रवाद, १० विद्याप्रवाद, ११ कल्याण, १२ प्राणवाद, १३ क्रियाविशाल और १४ लोकबिन्दुसार। अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से श्रुतज्ञान चार प्रकार का है। शास्त्र के बल से, श्रुतज्ञानी साधारणतया सबद्रव्य, सबक्षेत्र, सब काल और सब भावो को जानते है।

अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान के भेद —

अणुगामि वड्ढमाणय पडिवाईयरविहा छहा ओही।
रिउमइविउलमई मणनाणं केवलमिगविहाणं ॥८॥

(अणुगामि) अनुगामि, (वड्ढमाणय) वर्धमान, (पडिवाइ) प्रतिपाति तथा (इयरविहा) दूसरे प्रतिपक्षि-भेदों से (ओही) अवधिज्ञान, (छहा) छः प्रकार का है। (रिउमइ) ऋजुमति और (विउलमई) विपुलमति यह दो, (मणनाण) मन·पर्यवज्ञान है। (केवलमिगविहाणं) केवलज्ञान एक ही प्रकार का है अर्थात् उसके भेद नही है ॥८॥

भावार्थ—अवधिज्ञान दो प्रकार का है–भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय। जो अवधिज्ञान जन्म से ही होता है उसे भवप्रत्यय कहते है और वह देवों तथा नारक जीवों को होता है। किन्ही-किन्ही मनुष्यों तथा तिर्यञ्चों को जो अवधिज्ञान होता है, वह गुण-प्रत्यय कहलाता है। तपस्या, ज्ञान की आराधना आदि कारणों से गुण-प्रत्यय अवधिज्ञान होता है। इस गाथा मे गुण-प्रत्यय अवधिज्ञान के छः भेद दिखलाये है.—१ अनुगामि, २ अननुगामि, ३ वर्धमान, ४ हीयमान, ५ प्रतिपाति और ६ अप्रतिपाति।

१–एक जगह से दूसरी जगह जाने पर भी जो अवधिज्ञान, आंख के समान ही साथ ही रहे, उसे अनुगामि कहते है। तात्पर्य यह है कि जिस जगह जीव में यह ज्ञान प्रकट होता है, वह जीव उस जगह से, सख्यात या असख्यात योजन के क्षेत्रों को चारो तरफ जैसे देखता है, उसी प्रकार दूसरी जगह जाने पर भी उतने ही क्षेत्रो को देखता है।

२–जो अनुगामि से उल्टा हो अर्थात् जिस जगह अवधि-ज्ञान प्रकट हुआ हो, वहा से अन्यत्र जाने पर वह ज्ञान नही रहे।

३–जो अवधिज्ञान, परिणाम विशुद्धि के साथ, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा को लिए दिन-दिन बढ़े उसे वर्धमान अवधि कहते है।

४–जो अवधिज्ञान परिणामो की अशुद्धि से दिन-दिन घटे-कम होता जाय, उसे हीयमान अवधि कहते है।

५–जो अवधिज्ञान, फूक से दीपक के प्रकाश के समान यकायक गायब हो जाय-चला जाय, उसे प्रतिपाति अवधि कहते है।

६–जो अवधिज्ञान केवल ज्ञान से, अन्तर्मुहूर्त पहले प्रकट होता है, और बाद केवलज्ञान मे समा जाता है उसे अप्रतिपाति अवधि कहते है। इसी अप्रतिपाति को परमावधि भी कहते है। अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा अवधिज्ञान चार प्रकार का है।

द्रव्य–अवधिज्ञानी जघन्य से, अर्थात कम से कम अनन्त रूपि द्रव्यो को जानते और देखते है। उत्कृष्ट से अर्थात् अधिक से अधिक सम्पूर्ण रूपि द्रव्यों को जानते तथा देखते है।

क्षेत्र–अवधिज्ञानी कम से कम अगुल के असख्यातवे भाग जितने क्षेत्र के द्रव्यो को जानते तथा देखते है। अधिक से अधिक अलोक मे, लोक-प्रमाण असंख्य खण्डों को जान सकते तथा देख सकते है।

अलोक मे कोई पदार्थ नही है तथापि यह असत्कल्पना की जाती है कि अलोक मे, लोकप्रमाण असंख्यात खण्ड, जितने क्षेत्र को घेर सकते है, उतने क्षेत्र के रुपि-द्रव्यों को जानने तथा देखनेकी

शक्ति अवधिज्ञानी मे होती है। अवधिज्ञान के सामर्थ्य को दिखलाने के लिए असत्कल्पना की गई है।

काल–कम से कम, अवधिज्ञानी आवलिका के असंख्यातवे भाग जितने काल के रुपि द्रव्यो को जानता तथा देखता है और अधिक से अधिक, असंख्य उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी प्रमाण, अतीत और अनागत काल के रुपिपदार्थो को जानता तथा देखता है।

भाव–कम से कम, अवधिज्ञानी रुपिद्रव्य के अनन्त भावो को–पर्यायों को जानता तथा देखता है। और अधिक से अधिक भी अनन्त भावों को जानता तथा देखता है। अनन्त के अनन्त भेद होते है, इसलिए जघन्य और उत्कृष्ठ अनंत में फर्क समझना चाहिए। उक्त अनन्त भाव, सम्पूर्ण भावों के अनन्तवे भाग जितना है। जिस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव के मति तथा श्रुत को मतिअज्ञान तथा श्रुतअज्ञान कहते है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव के अवधि को विभंग कहते है।

मन पर्यायज्ञान के दो भेद है,–१ऋजुमति और २ विपुलमति।

१–दूसरे के मन मे स्थित पदार्थ के सामान्य स्वरुप को जानना अर्थात् इसने घड़े को लाने तथा रखने का विचार किया है, इत्यादि साधारण रुप से जानना, ऋजुमति ज्ञान कहलाता है।

२–दूसरे के मन में स्थित पदार्थ के अतेक पर्यायों को जानना अर्थात् इसने जिस घड़े का विचार किया है वह अमुक धातु का है, अमुक जगह का वना हुआ है, अमुक रंग का है, इत्यादि विशेष अवस्थाओ के ज्ञान को विपुलमतिज्ञान कहते है। अथवा द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा मन.पर्यायज्ञान के चार भेद है।

द्रव्यसे—ऋजुमति मनोवर्गणा के अनन्त प्रदेशवाले अनन्त स्कन्धो को देखता है और विपुलमति, ऋजुमति की अपेक्षा अधिक प्रदेशों वाले स्कन्धों को अधिक स्पष्टता से देखता है।

क्षेत्रसे—ऋजुमति तिरछी दिशा में ढाई द्वीप: उर्ध्व दिशा मे (ऊपर) ज्योतिश्चक्र के ऊपर का तल और अधोदिशा में (नीचे) कुबड़ी उंडीविजय तक के संज्ञी जीव के मनोगत भावों को देखता है। विपुलमति, ऋजुमति की अपेक्षा ढाई अंगुल अधिक तिरछे क्षेत्र के संज्ञी जीव के मनोगत भावों को देखता है।

कालसे—ऋजुमति पल्योपम के असख्यातवें भाग जितने भूतकाल तथा भविष्य काल क मनोगत भावों को देखता है। विपुलमति, ऋजुमति की अपेक्षा कुछ अधिक काल के, मन से, चिन्तित, या मन से जिनका चिन्तन होगा, ऐसे पदार्थों को देखता है।

भावसे—ऋजुमति मनोगत द्रव्य के असंख्यात पर्यायों को देखता है और विपुलमति ऋजुमति की अपेक्षा कुछ अधिक पर्यायो को देखता है।

केवलज्ञान में किसी प्रकार का भेद नही है। सम्पूर्ण द्रव्य और उनके सम्पूर्ण पर्यायों को केवलज्ञानी एक ही समय में जान लेता है। अर्थात् भूत, भविष्यत् और वर्तमान का कोई भी परिवर्तन उससे छिपा नहीं रहता। उसे निरावरण ज्ञान और क्षायिक ज्ञान भी कहते है। मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान संयमधारी को होते है, अन्य को नहीं। माता मरुदेवी को केवलज्ञान हुआ। उनमें पहले वह भाव से सर्वविरता थी।

इस तरह मतिज्ञान के २८, श्रुतज्ञान के १४ भेद,

अवधिज्ञान के ६, मन.पर्याय के २, तथा केवलज्ञान का १, इनसव भेदो को मिलाने से, पांचों ज्ञानों के ५१ अथवा ५७ भेद होते है।

अव उनके आवरणों को कहते है —

एसिं जं आवरणं पडुव्व चक्खुस्स तं तयावरणं।
दंसणचउ पणनिद्दा वित्तसमं दंसणावरणं ॥ ९ ॥

(चक्खुस्स) आंख के (पडुव्व) पट-पट्टी के समान, (एसि) इन मति आदि पांच ज्ञानो का (ज) जो (आवरण) आवरण है, (तं) वह (तयावरणं) उनका आवरण कहा जाता है अर्थात् मतिज्ञान का आवरण, मतिज्ञानावरण; श्रुतज्ञान का आवरण, श्रुतज्ञानावरण, इस प्रकार दूसरे आवरणो को भी समझाना चाहिये। (दसणावरण) दर्शनावरण कर्म, (वित्तसम) वेत्री-दरवान के सदृश है। उसके नव भेद है, सो इस प्रकार-(दसणचउ) दर्शनावरण-चतुष्क और (पणनिद्दा) पाच निद्राए ॥ ९ ॥

भावार्थ–ज्ञान के आवरण करने वाले कर्म को ज्ञानावरण अथवा ज्ञानावरणीय कहते है। जिस प्रकार आख पर कपड़े की पट्टी लपेटने से वस्तुओ के देखने मे रुकावट होती है, उसी प्रकार ज्ञानावरण के प्रभाव से आत्मा को, पदार्थो के जानने मे रुकावट पहुचती है। परन्तु ऐसी रुकावट नही होती कि जिससे आत्मा को किसी प्रकार का ज्ञान ही न हो। चाहे जैसे घने वादलों से सूर्य घिर जाय तो भी उसका कुछ न कुछ प्रकाश, जिससे कि रात दिन का भेद समझा जा सकता है, जरुर वना रहता है। इसी प्रकार कर्मो के चाहे जैसे गाढ आवरण क्यो न हों, आत्मा को कुछ न कुछ ज्ञान होता ही रहता है। आख की पट्टी का जो दृष्ठात दिया गया है उसका अभिप्राय यह है कि, पतले कपड़े की पट्टी होगी तो कुछ ही कम दिखेगा, गाढ़े कपड़े की पट्टी होगी तो वहुत

कम दिखेगा, इसी प्रकार ज्ञानवरण कर्म्मों की आच्छादन करने की शक्ति जुदी २ होती है ।

१–भिन्न-भिन्न प्रकार के मति ज्ञानों के आवरण करने वाले भिन्न-भिन्न कर्मो को मतिज्ञानावरणीय कहते है । तात्पर्य यह है कि, पहले मतिज्ञान के अट्ठाईस भेद कहे गये और दूसरी अपेक्षा से तीन सौ चालीस भेद भी कहे गये । उन सवों के आवरण करने वाले कर्म भी भिन्न-भिन्न है, उनका "मतिज्ञानावरण" इस एक शब्द से ग्रहण होता है । इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये ।

२–श्रुतज्ञान के चौदह अथवा बीस भेद कहे गये है, उनके आवरण करने वाले कर्मो को श्रुत ज्ञानवरणीय कहते है ।

३–पूर्वोक्त भिन्न-भिन्न प्रकार के अवधिज्ञानों के आवरण करने वाले कर्मो को अवधिज्ञानावरणीय कहते है ।

४–मन पर्यायज्ञान के आवरण करने वाले कर्मो को मन पर्याय-ज्ञानावरणीय कहते हैं ।

५–केवलज्ञान के आवरण करने वाले कर्मो को केवलज्ञानावरणीय कहते है । इन पाचो ज्ञानावरणो मे केवलज्ञानावरण कर्म सर्वघाती है, और दूसरे चार देशघाती । दर्शनावरणीय कर्म द्वारपाल के समान है । जिस प्रकार द्वारपाल, जिस पुरुष से वह नाराज है, उसको राजा के पास जाने नही देता, चाहे राजा उसे देखना भी चाहे । उसी प्रकार दर्शनावरण कर्म, जीव रूपी राजा को पदार्थो के देखने की शक्ति मे रुकावट पहुचाता है । दर्शनावरणीयचतुष्क और पाच निद्राओ को मिलाकर दर्शनावरणीय के नव भेद होते है, सो आगे दिखलावेगे ।

दर्शनावरणीयचतुष्क—

चक्खुदिट्ठिअचक्खूसेसिंदियओहिकेवलेहि च ।
दंसणमिह सामन्नं तस्सावरणं तयं चउहा ॥१०॥

(चक्खुदिट्ठि) चक्षुका अर्थ है दृष्टि अर्थात् आंख, (अचक्खु सेसिदिय) अचक्षु का अर्थ है शेष इन्द्रिया अर्थात् आख को छो कर अन्य चार इन्द्रियां (ओहि) अवधि और (केवलेहि) केवल इन से (दसण) दर्शन होता है जिसे कि (इह) इस शास्त्र मे (सामन्न) सामान्य उपयोग कहते है। (तस्सावरणं) उसका आव रण, (तय चउहा) उन दर्शनो के चार नामों के भेद से चार प्रका का है। (च) "केवलेहि च" इस 'च' शद्व से, शेष इन्द्रियो के साथ मन के ग्रहण करने की सूचना दी गई है।

भावार्थ—दर्शनावरण-चतुष्क का अर्थ है दर्शनावरण के चार भेद, वे ये है—१ चक्षुर्दर्शनावरण, २ अचक्षुर्दर्शनावरण, ३ अवधिर्दर्शनावरण और ४ केवलदर्शनावरण।

१—आख के द्वारा जो पदार्थों के सामान्य धर्म का ग्रहण होता है, उसे चक्षुर्दर्शन कहते है। उस सामान्य ग्रहण को रोकने वाला कर्म चक्षुर्दर्शनावरण है।

२—आंख को छोडकर त्वचा, जीभ, नाक, कान और मन से जो पदार्थों के सामान्य धर्म का प्रतिभास होता है, उसे अचक्षुर्दर्शन कहते है। उसका आवरण, अचक्षुर्दर्शनावरण है।

३—इन्द्रिय और मन की सहायता के विना ही आत्मा को रूपिद्रव्य के सामान्य धर्म का जो बोध होता है, उसे अवधिदर्शन कहते है। उसका आवरण अवधिदर्शनावरण है।

४—ससार के सम्पूर्ण पदार्थों का जो सामान्य अवबोध होता है उसे केवलदर्शन कहते है। उसका आवरण केवलदर्शनावरण कहा जाता है।

विशेष—चक्षुर्दर्शनावरण कर्म के उदय से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय जीवों को जन्म से ही आंखे नही होती। चतुरिन्द्रिय

और पञ्चेन्द्रिय जीवों की आखे उक्त कर्म के उदय से नष्ट हो जाती है अथवा रतौंधी आदि के हो जाने से उनसे कम दीख पड़ता है। इसी प्रकार, शेष इन्द्रियों और मन वाले जीवों के विषय में भी उन इन्द्रियों का और मन का जन्म से ही न होना अथवा जन्म से होने पर भी कमजोर, अस्पष्ट होना, पहिले के समान समझना चाहिये। जिस प्रकार अवधिदर्शन माना गया है, उसी प्रकार मन.पर्यायदर्शन क्यों नही माना गया, ऐसा सन्देह करना इसलिये ठीक नही है कि मन:पर्यायज्ञान, क्षयोपशम के प्रभाव से विशेष धर्मो को ही ग्रहण करते हुये उत्पन्न होता है, सामान्य को नही।

पाच निद्राओं के वर्णन में आदि की चार निद्राये:—

सुहपडिबोहा निद्दा निद्दानिद्दा य दुक्खपडिबोहा।
पयला ठिओवविट्ठस्स पयलपयला य चंकमओ ॥११॥

(सुहपडिवोहा) जिसमें विना परिश्रम के प्रतिवोध हो, वह (निद्दा) निद्रा; (य) और (दुक्खपडिवोहा) जिसमें कष्ट से प्रतिवोध हो, वह (निद्दानिद्दा) निद्रानिद्रा; (ठिओवविट्ठस्स) स्थित और उपविष्ट को (पयला) प्रचला होती है; (चंकमओ) चलने-फिरने वाले को (पयलपयला) प्रचलाप्रचला होती है।

भावार्थ—दर्शनावरणीय कर्म के नव भेदों में से चार भेद पहले कह चुके है। अव पांच भेदों को कहते है:—१ निद्रा, २ निद्रा-निद्रा, ३ प्रचला, ४ प्रचलाप्रचला और स्त्यानर्द्धि।

१—जो सोचा हुआ जीव, थोड़ी सी आवाज से जागता है, अर्थात् उसे जगाने में मेहनत नही पडती, उसकी नींद को निद्रा कहते है और जिस कर्म के उदय से ऐसी नीद आती है, उस कर्म का भी नाम 'निद्रा' है।

२–जो सोया हुआ जीव, बड़े जोर से चिल्लाने या हाथ से जोर से हिलाने पर बड़ी मुश्किल से जागता है, उसकी नीद को निद्रानिद्रा कहते है, जिस कर्म के उदय से ऐसी नीद आवे, उस कर्म का भी नाम 'निद्रानिद्रा' है ।

३–खड़े-खड़े या बैठे-बैठे जिसको नीद आती है, उसकी नीद को प्रचला कहते है, जिस कर्म के उदय से ऐसी नीद आवे, उस कर्म का भी नाम 'प्रचला' है ।

४–चलते फिरते जिसको नीद आती है, उसकी नीद को प्रचलाप्रचला कहते है, जिस कर्म के उदय से ऐसी नीद आवे, उस कर्म का भी नाम 'प्रचलाप्रचला' है ।

स्त्यानर्द्धि का स्वरूप और वेदनीय कर्म का स्वरूप —

दिणचिंतियत्थकरणी, थीणद्धी अद्धचक्किअद्धबला ।
महुलित्तखग्गधारालिहणं व दुहा उ वेयणियं ॥१२॥

(दिणचितियत्थकरणी) दिन मे सोचे हुए काम को करने वाली निद्रा को (थीणद्धी) स्त्यानर्द्धि कहते है, इस निद्रा मे जीव को (अद्धचक्किअद्धबला) अर्द्ध चक्री अर्थात् वासुदेव, उसका आधा वल होता है । (वेयणिय) वेदनीय कर्म, (महुलित्तखग्ग धारा-लिहणं व) मधु से लिप्त, खड्ग की धारा को चाटने के समान है, और यह कर्म (दुहा उ) दो ही प्रकार का है ॥१२॥

भावार्थ—स्त्यानर्द्धि का दूसरा नाम स्त्यानगृद्धि भी है, जिसमे आत्मा की शक्ति, पिण्डित अर्थात् इकट्ठी होती है उसे स्त्यानर्द्धि कहते है ।

५–जो जीव, दिन मे अथवा रात में सोचे हुये काम को नीद की हालत मे कर डालता है, उसकी नीद को स्त्यानगृद्धि कहते है,

जिस कर्म के उदय से ऐसी नीद आती है, उस कर्म का भी नाम स्त्यानगृद्धि है।

वज्रऋषभनाराच सहनन वाले जीव को जव इस स्त्यानर्द्धि कर्म का उदय होता है, तव उसे वासुदेव का आधा वल हो जाता है। यह जीव, मरने पर अवश्य नरक जाता है।

तीसरा कर्म वेदनीय है। इसे वेद्य कर्म भी कहते हैं। इसका स्वभाव, तलवार की शहद लगी हुई धारा को चाटने के समान है। वेदनीय कर्म के दो भेद है.–१ सात वेदनीय और २ असातवेदनीय। तलवार की धार मे लगे हुये शहद को चाटने के समान सात वेदनीय है और खड्ग धारा से जीभ के कटने के असातवेदनीय है।

१–जिस कर्म के उदय से आत्मा को विषय सम्वधी सुख का अनुभव होता है, वह सातवेदनीय कर्म है।

२–जिस कर्म के उदय से, आत्मा को अनुकूल विषयों की अप्राप्ति से अथवा प्रतिकूल विषयों की प्राप्ति से दुःख का अनुभव होता है, वह असातवेदनीय कर्म है।

आत्मा को जो अपने स्वरुप के सुख का अनुभव होता है। वह किसी भी कर्म के उदय से नही। मधुलिप्त खड्गधारा का दृष्टान्त देकर यह सूचित किया गया है कि वैषयिक सुख अर्थात् पौद्गलिक सुख, दुःख से मिला हुआ ही है।

चार गतियों सात मे असात का स्वरुप तथा मोहनीय कर्म.–

ओसन्नं सुरमणुए सायमसायं तु तिरियनरएसु।
मज्जं व मोहणीयं दुविहं दंसणचरणमोहा ॥ १३ ॥

(ओसन्न) प्राय (सुरमणुए) देवों और मनुष्यों मे (साय) सात वेदनीय कर्म का उदय होता है। (तिरियनरएसु)

तिर्यचों और नारको मे (तु) तो प्राय. (असायं) असातवेदनीय कर्म का उदय होता है। (मोहणीय) मोहनीय कर्म, (मज्जव) मद्य के सदृश है, और वह (दसणचरणमोहा) दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनी को लेकर (दुविह) दो प्रकार है।

भावार्थ–देवो और मनुष्यों को प्रायः सातवेदनीय का उदय रहता है। 'प्राय.' शब्द से यह सूचित किया जाता है कि उनको असातवेदनीय का भी उदय हुआ करता है, परन्तु कम देवों को अपनी देवगति से च्युत होने के समय, अपनी ऋद्धि की अपेक्षा दूसरे देवों की विशाल ऋद्धि को देखने से जब ईर्ष्या का प्रादुर्भाव होता है तब, तथा और-और समयों मे भी असातवेद-नीय का उदय हुआ करता है। इसी प्रकार मनुष्यों को गर्भवास, स्त्री-पुत्र वियोग, शीत उष्ण आदि से दुःख हुआ करता है।

तिर्यञ्च जीवों तथा नारक जीवों को प्रायः असातवेदनीय का उदय हुआ करता है। प्रायः शब्द से सूचित किया गया है कि उनको सातवेदनीय का भी उदय हुआ करता है, परन्तु कम। तिर्यञ्चो मे कई हाथी घोडे कुत्ते आदि जीवों का आदर के साथ पालन पोषण किया जाता है। इसी प्रकार नारक जीवो को भी तीर्थङ्करों के जन्म आदि कल्याणको के समय सुख का अनुभव हुआ करता है।

सासारिक सुख का देवो को विशेष अनुभव होता है और मनुष्यों को उनसे कम। दु.ख का विशेप अनुभव, नारक तथा निगोद के जीवों को होता है उनकी अपेक्षा तिर्यञ्चों को कम।

चौथा कर्म मोहनीय है। उसका स्वभाव मद्य के समान है। जिस प्रकार मद्य के नशे में मनुष्य को अपने हित अहित की पहिचान नही रहती, उसी प्रकार मोहनीय कर्म के उदय से

आत्मा को अपने हित अहित के पहिचान ने की बुद्धि नही होती। कदाचित् अपने हित अहित की परीक्षा कर सके तो भी वह जीव, मोहनीय कर्म के प्रभाव से तदनुसार आचरण नही कर सकता। मोहनीय के दो भेद है.—१ दर्शनमोहनीय और २ चारित्र-मोहनीय।

१–जो पदार्थ जैसा है, उसे वैसा ही समझना, यह दर्शन है अर्थात् तत्वार्थ-श्रद्धा को दर्शन कहते है। यह आत्मा का गुण है, इसके घात करने वाले कर्म को दर्शनमोहनीय कहते है। सामान्य उपयोग रूप दर्शन, इस दर्शन से जुदा है।

२–जिसके द्वारा आत्मा अपने असली स्वरूप को पाता है, उसे चारित्र कहते है। यह भी आत्मा का गुण है; इसके घात करने वाले कर्म को चारित्रमोहनीय कहते है।

दर्शनमोहनीय के तीन भेद:—

दंसणमोहं तिविहं सम्मं मीसं तहेव मिच्छत्तं ।
सुद्धं अद्धविसुद्धं अविसुद्धं थं हवइ कमसो ॥१४॥

(दसणमोहं) दर्शनमोहनीय कर्म, (तिविहं) तीन प्रकार का है, (सम्म) १ सम्यक्त्वमोहनीय, (मीसं) २ मिश्रमोहनीय (तहेव) उसी प्रकार (मिच्छत्तं) ३ मिथ्यात्वमोहनीय। (तं) वह तीन प्रकार का कर्म,(कमसो) क्रमश: (सुद्धं) सुद्धं, (अद्धविसुद्धं) अर्द्धविशुद्ध और (अविसुद्धं) अविशुद्ध (हवइ) होता है ॥१४॥

भावार्थ—दर्शनमोहनीय के तीन भेद है:—१ सम्यक्त्व-मोहनीय, २ मिश्रमोहनीय और ३ मिथ्यात्वमोहनीय। सम्यक्त्व-मोहनीय के दलिक शुद्ध है; मिश्रमोहनीय के अर्वविशुद्ध और मिथ्यात्वमोहनीय के अशुद्ध।

(१) कोदो (कोद्रव) एक प्रकार का अन्न है, जिसके खाने से नशा होता है। परन्तु उस अन्न का भूसा निकाला जाय और छाछ आदि से शोधा जाय तो वह नशा नही करता। उसी प्रकार जीव को, हित-अहित की परीक्षा मे विघल करने वाले मिथ्यात्व-मोहनीय के पुद्गल है। उसमें सर्वघाती रस होता है। द्विस्थानक, त्रिस्थानक और चतु:स्थानक रस, सर्वघाती है। जीव अपने विशुद्ध परिणाम के बल से उन पुद्गलो के सर्वघाती रस को अर्थात् शक्ति को घटा देता है, सिर्फ एकस्थानक रस बच जाता है। इन एकस्थानक रस वाले मिथ्यात्वमोहनीय के पुद्गलों को ही सम्यक्त्वमोहनीय कहते है। यह कर्म शुद्ध होने के कारण, तत्वरुचि रूप सम्यक्त्व मे बाधा नही पहुचाता, परन्तु इसके उदय से आत्म स्वाभाव रूप औपशमिकसम्यक्त्व तथा क्षायिकसम्यक्त्व होने नही पाता और सूक्ष्म पदार्थो के विचार ने में शकाये हुआ करती है जिससे कि सम्यक्त्व मे मलिनता आजाती है। इसी दोष के कारण यह कर्म सम्यक्त्वमोहनीय कहलाता है।

(२) कुछ भाग शुद्ध और कुछ भाग अशुद्ध ऐसे कोदौ के समान मिश्रमोहनीय है। इस कर्म के उदय से जीव को तत्वरुचि नही होने पाती और अतत्वरुचि भी नही होती। मिश्रमोहनीय का दूसरा नाम सम्यक्मिथ्यात्वमोहनीय है। इन कर्मपुद्गलों मे द्विस्थानकरस होता है।

(३) सर्वथा अशुद्ध को दो के समान मिथ्यात्वमोहनीय है। इस कर्म के उदय से जीव को हित मे अहितबुद्धि और अहित मे हितबुद्धि होती है अर्थात् हित को अहित समझता है और अहित को हित। इन कर्म पुद्गलों में चतु:स्थानक, त्रिस्थानक, और द्विस्थानक रस होता है। $\frac{1}{4}$ को चतु.स्थापक, $\frac{1}{3}$ को त्रिस्थानक और $\frac{1}{2}$ को द्विस्थानक रस कहते है। जो रस

चश्मा, आखों का आच्छादक होने पर भी देखने में रुकावट नही पहुचाता, उसी प्रकार सम्यक्त्वमोहनीय कर्म, आवरण स्वरूप होने पर भी शुद्ध होने के कारण, जीव की तत्वार्थ श्रद्धा का विघात नहीं करता; इसी अभिप्राय से ऊपर कहा गया है कि 'इसी कर्म से जीव को नव तत्त्वों पर श्रद्धा होती है।'

सम्यक्त्व के कई भेद हैं। किसी अपेक्षा से सम्यक्त्व दो प्रकार का है -१ व्यवहारसम्यक्त्व और २ निश्चयसम्यक्त्व। कुगुरु, कुदेव और कुमार्ग को त्यागकर सुगुरु, सुदेव और सुमार्ग का स्वीकार करना, व्यवहार सम्यक्त्व है। आत्मा का वह परिणाम, जिसके कि होने से ज्ञान विशुद्ध होता है, निश्चय-सम्यक्तव है।

१-मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय और सम्यक्तवमोहनीय, इन तीन प्रकृतियो के क्षय होने पर आत्मा में जो परिणाम विशेष होता है, उसे क्षायिकसम्यक्तव कहते है।

२-दर्शनमोहनीय की ऊपर कही हुई तीन प्रकृतियों के उपशम से, आत्मा मे जो परिणाम होता है उसे औपशमिक सम्यक्तव कहते है। यह सम्यक्तव ग्यारहवे गुणस्थान में वर्तमान जीव को होता है। अथवा, जिस जीवने अनिवृत्तिकरण के अतिम समय मे मिथ्यात्वमोहनीय के तीन पुञ्ज किये है, और मिथ्यात्व पुञ्ज का क्षय नही किया है, उस जीव को यह औपशमिक सम्यक्तव प्राप्त होता है।

३-मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के क्षय तथा उपशम से, और सम्यक्तव मोहनीय कर्म के उदय से, आत्मा में जो परिणाम होता है, उसे क्षायोपशमिकसम्यक्तव कहते है। उदय आये हुए मिथ्यात्व के पुद्गलो का क्षय तथा जिनका उदय मे नहीं प्राप्त हुआ है उन पुद्गलों का उपशम, इस तरह मिथ्यात्व मोहनीय का क्षयो-

पशम होता है। यहा पर जो यह कहा गया है कि मिथ्यात्व का उदय होता है, वह प्रदेशोदय समझना चाहिये, न कि रसोदय। आपशमिक सम्यक्त्वमे मिथ्यात्व का रसोदय और प्रदेशोदय—दोनो प्रकारका उदय नही होता। प्रदेशोदयका ही उदयाभावी क्षय कहते है। जिसके उदयसे आत्मापर कुछ असर नही होता वह प्रदेशोदय है। तथा जिसका उदय आत्मा पर असर जमाता है, वह रसोदय है।

४—क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमे वर्तमान जीव, जब सम्यक्त्व मोहनीय के अन्तिम पुद्गल के रसका अनुभव करता है, उस समय के उसके परिणाम को वेदक सम्यक्त्व कहते है। वेदक सम्यक्त्व के वाद, उसे क्षायिक सम्यक्त्व ही प्राप्त होता है।

५-उपशमसम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यात्व के अभिमुख हुआ जिव, जव तक मिथ्यात्व को नही प्राप्त करता, तव तक के उसके परिणाम विशेषको सास्वादन अथवा सासादन सम्यक्त्व कहते है।

इसी प्रकार जिनोक्त क्रियाओं को—देववंदन, गुरुवंदन, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि को करना 'कारक सम्यक्तव, उनमें रुचि रखने को 'रोचक सम्यक्तव' और उनसे होने वाले लाभोंका सभाओंमे समर्थन करना 'दीपक सम्यक्तव' इत्यादि सम्यक्तव के कई भेद है।

अब नव तत्त्वों का संक्षेप से स्वरुप कहते हैं :—

१—जो प्राणों की धारणकरे, वह जीव है। प्राणके दो भेद है.-द्रव्यप्राण और भाव प्राण। पांच इन्द्रियां तीन वल, श्वासोच्छ्वास और आयु—ये दस, द्रव्य प्राण है। ज्ञान दर्शन आदि स्वभाविक गुणो को भाव प्राण कहते है। मुक्त जीवों में भाव प्राण होते है। ससारी जीवों में द्रव्य प्राण और भाव प्राण दोनो होते है। जीव तत्त्व के चौदह भेद है।

२–जिसमें प्राण न हो अर्थात् जड़ हो, वह अजीव है। पुद्गल, धर्मास्तिकाय, आकाश आदि अजीव है। अजीव तत्त्व के भी चौदह भेद है।

३–जिस कर्म के उदय से जीव को सुख का अनुभव करता है, वह द्रव्यपुण्य, और जीव के शुभ परिणाम दान, दया आदि भावपुण्य है। पुण्य तत्त्व के बयालीस भेद है।

४–जिस कर्म के उदय से जीव दु ख का अनुभव करता है, वह द्रव्यपाप और जीव का अशुभ परिणाम भावपाप है। पाप तत्त्व के बयासी भेद है।

५–कर्मो के आने का द्वार, जो जीव के शुभ अशुभ परिणाम है, वह भावास्त्रव और शुभ अशुभ परिणामों को उत्पन्न करने वाली अथवा शुभ अशुभ परिणामों से स्वय उत्पन्न होने वाली प्रवृतियो को द्रव्यास्त्रव कहते है। आस्त्रव तत्त्व के बया-लीस भेद है।

६–आते हुए नये कर्मो को रोकने वाला आत्मा का परि-णाम, भाव सवर, और कर्म पुद्गल की रुकावट को द्रव्य सवर कहते है। संवर तत्त्व के सत्तावन भेद है।

७–कर्म पुद्गलों का जीव प्रदेशों के साथ दूध-पानी की तरह आपस मे मिलना, द्रव्यवन्ध और द्रव्यवन्ध को उत्पन्न करने वाले अथवा द्रव्यवन्ध से उत्पन्न होने वाले आत्मा के परिणाम भाववन्ध है। वन्धके चार भेद है।

८–सम्पूर्ण कर्म पुद्गलों का आत्माप्रदेशो से जुदा हो जाना द्रव्यमोक्ष और द्रव्यमोक्ष के जनक अथवा द्रव्यमोक्ष-जन्य आत्मा के विशुद्ध परिणाम भाव मोक्ष है। मोक्ष के नव भेद है।

९–कर्मो को एक देश आत्मा-प्रदेशों से जुदा होता है, वह द्रव्यनिर्जरा और द्रव्यनिर्जरा के जनक अथवा द्रव्यनिर्जरा-जन्य आत्मा के शुद्ध परिणाम, भाव निर्जरा है। निर्जरा के वारह भेद है

और राग द्वेप, कर्म सम्वन्ध के विना हो नही सकते। तथापि उन्हें कर्म रहित मानना, यह कहना कि, भगवान् सब कुछ करते है तथापि अलिप्त है।

चरित्रमोहनीय की उत्तरप्रकृतियां —

सोलह कसाय नव नोकसाय दुविहं चरित्तमोहणिय।
अण अप्पच्चक्खाणा पच्चक्खाणा य संजलणा ॥१७॥

(चरित्त मोहणिय) चारित्रमोहनीय कर्म (दुविह) दो प्रकार का है:—(सोलस कसाय) सोलह कपाय और (नवनो-कसाय) नव नोकपाय(अण) अनन्तानुवन्धी, (अप्पच्चक्खाणा) अप्रत्याख्यानावरण (पच्चक्खाणा) प्रत्याख्यानावरण (य) और ...लणा) सञ्ज्वलन, इनके चार-चार भेद होने से सब कपायो ...या, सोलह होती है ॥१७॥

...ावार्थ—...त्र मोहनीय के दो भेद है। कपाय मोहनीय ...ाय ... कपाय मोहनीय के सोलह भेद है, और ... इस गाथा मे कपाय मोहनीय के भेद ... का वर्णन आगे आवेगा।

... जन्म मरण रूप ससार, उसकी ... कपाय कहते है।

... के साथ जिनका उदय होना ... उभाड़ने वाले—उत्तेजित ...षाय कहते हैं। इस विषय

और राग द्वेष, कर्म सम्बन्ध के विना हो नही सकते। तथापि उन्हे कर्म रहित मानना, यह कहना कि, भगवान् सब कुछ करते है तथापि अलिप्त है।

चरित्रमोहनीय की उत्तरप्रकृतिया —

सोलह कसाय नव नोकसाय दुविहं चरित्तमोहणिय।
अण अप्पच्चक्खाणा पच्चक्खाणा य संजलणा ॥१७॥

(चरित्त मोहणियं) चारित्रमोहनीय कर्म (दुविहं) दो प्रकार का है —(सोलस कसाय) सोलह कषाय और (नवनो-कसाय) नव नोकषाय(अण) अनन्तानुबन्धी, (अप्पच्चक्खाणा) अप्रत्याख्यानावरण (पच्चक्खाणा) प्रत्याख्यानावरण (य) और (सजलणा) सञ्ज्वलन, इनके चार-चार भेद होने से सब कषायों की संख्या, सोलह होती है ॥१७॥

भावार्थ—चरित्र मोहनीय के दो भेद है। कषाय मोहनीय और नोकषाय मोहनीय। कषाय मोहनीय के सोलह भेद है, और नोकषाय मोहनीय के नव। इस गाथा मे कषाय मोहनीय के भेद कहे गये है, नोकषाय मोहनीय का वर्णन आगे आवेगा।

कषाय—कष का अर्थ है जन्म मरण रूप ससार, उसकी आय अर्थात् प्राप्ति जिससे हो, उसे कषाय कहते है।

नोकषाय—कषायो के उदय के साथ जिनका उदय होता नोकषाय, अथवा कषायो को उभाडने वाले—उत्तेजित [illegible] हास्य आदि नव को नोकषाय कहते है। इस विषय [illegible] प्रकार है:—

[illegible]त्वात्, कषायप्रेरणादपि।
[illegible]त्ता, नोकषायकषायता ॥

और राग द्वेष, कर्म सम्बन्ध के विना हो नहीं सकते। तथापि उन्हें कर्म रहित मानना, यह कहना कि, भगवान् सब कुछ करते है तथापि अलिप्त है।

चरित्रमोहनीय की उत्तरप्रकृतियां —

सोलह कसाय नव नोकसाय दुविहं चरित्तमोहणिय।
अण अप्पच्चक्खाणा पच्चक्खाणा य संजलणा ॥१७॥

(चरित्त मोहणिय) चारित्रमोहनीय कर्म (दुविह) दो प्रकार का है:—(सोलस कसाय) सोलह कपाय और (नवनो-कसाय) नव नोकषाय(अण) अनन्तानुवन्धी, (अप्पच्चक्खाणा) अप्रत्याख्यानावरण (पच्चक्खाणा) प्रत्याख्यानावरण (य) और (सजलणा) सञ्ज्वलन, इनके चार-चार भेद होने से सब कषायों की संख्या, सोलह होती है ॥१७॥

भावार्थ—चरित्र मोहनीय के दो भेद है। कपाय मोहनीय और नोकपाय मोहनीय। कपाय मोहनीय के सोलह भेद है, और नोकपाय मोहनीय के नव। इस गाथा में कपाय मोहनीय के भेद कहे गये है, नोकपाय मोहनीय का वर्णन आगे आवेगा।

कषाय—कष का अर्थ है जन्म मरण रूप ससार, उसकी आय अर्थात् प्राप्ति जिससे हो, उसे कपाय कहते है।

नोकषाय—कषयो के उदय के साथ जिनका उदय होता है, वे, नोकपाय, अथवा कपायों को उभाड़ने वाले–उत्तेजित करने वाले हास्य आदि नव को नोकपाय कहते हैं। इस विषय का एक श्लोक इस प्रकार है:—

'कषायसहवर्तित्वात्, कषायप्रेरणादपि।
हास्यादिनवकस्योक्ता, नोकषायकषायता ॥'

और राग द्वेष, कर्म सम्बन्ध के बिना हो नही सकते। तथापि उन्हे कर्म रहित मानना, यह कहना कि, भगवान् सब कुछ करते है तथापि अलिप्त है।

चरित्रमोहनीय की उत्तरप्रकृतियां —

सोलह कसाय नव नोकसाय दुविहं चरित्तमोहणियं।
अण अप्पच्चक्खाणा पच्चक्खाणा य संजलणा ॥१७॥

(चरित्त मोहणिय) चारित्रमोहनीय कर्म (दुविह) दो प्रकार का है.—(सोलस कसाय) सोलह कषाय और (नवनो-कसाय) नव नोकषाय(अण) अनन्तानुबन्धी, (अप्पच्चक्खाणा) अप्रत्याख्यानावरण (पच्चक्खाणा) प्रत्याख्यानावरण (य) और (सजलणा) सञ्ज्वलन, इनके चार-चार भेद होने से सब कषायो की सख्या, सोलह होती है ॥१७॥

भावार्थ—चरित्र मोहनीय के दो भेद है। कषाय मोहनीय और नोकषाय मोहनीय। कषाय मोहनीय के सोलह भेद है, और नोकषाय मोहनीय के नव। इस गाथा में कषाय मोहनीय के भेद कहे गये है, नोकषाय मोहनीय का वर्णन आगे आवेगा।

कषाय—कष का अर्थ है जन्म मरण रूप संसार, उसकी आय अर्थात् प्राप्ति जिससे हो, उसे कषाय कहते है।

नोकषाय—कषयों के उदय के साथ जिनका उदय होता है, वे, नोकषाय, अथवा कषायों को उभाड़ने वाले–उत्तेजित करने वाले हास्य आदि नव को नोकषाय कहते है। इस विषय का एक श्लोक इस प्रकार है:—

'कषायसहवर्तित्वात्, कषायप्रेरणादपि।
हास्यादिनवकस्योक्ता, नोकषायकषायता ॥'

देता। इनके भी चार भेद है:—सञ्ज्वलन क्रोध, २ सञ्ज्वलन मान, ३ सञ्ज्वलन माया और ४ सञ्ज्वलन लोभ।

मन्दवुद्धियों को समझाने के लिये ४ प्रकार के कषायों का स्वरूप –

जाजीववरिसचउमासपक्खगा नरयतिरिय नर अमरा।
सम्माणुसव्वविरईअहखायचरित्तघायकरा ॥ १८ ॥

उक्त अनन्तानुवन्धी आदि चार कषाय क्रमशः (जाजीव वरिस चउमास पक्खगा) यावत् जीव, वर्ष चतुर्मास और पक्ष तक रहते है और वे (नरयतिरियनरअमरा) नरक गति, तिर्यञ्च गति मनुष्य गति तथा देवगति के कारण है, और (सम्माणुसव्व-विरईअहखायचरित्त घायकरा) सम्यक्त्व, अणु विरति, सर्व विरति तथा यथाख्यात चरित्र का घात करते है।

भावार्थ—(१) अनन्तानुवन्धी कपाय वे है, जो जीवन पर्यन्त वने रहे, जिनसे नरक गति योग्य कर्मो का वन्ध हो और सम्यग्दर्शन का घात होता हो।

(२) अप्रत्याख्यानावरणकपाय, एक वर्ष तक वने रहते है, उनके उदय से तिर्यञ्च गति योग्य कर्मो का वन्ध होता है और देश विरति रूप चरित्र होने नही पाता।

(३) प्रत्याख्यानावरण कपायों की स्थिति चार महीने की है, उनके उदय से मनुष्य गति योग्य कर्मो का वन्ध होता है और सर्व विरतिरूप चारित्र नही होने पाता।

(४) सञ्ज्वलन कपाय, एक पक्ष तक रहते है, उनके उदय से देव गति योग्य कर्मो का वन्ध होता है और यथाख्यातचरित्र नही होने पाता।

[illegible]ओं के विषय में ऊपर जो कहा गया है, वह व्यवहार [illegible], क्योकि वाहूवलि आदि को सञ्ज्वलन कपाय [illegible]

देता। इनके भी चार भेद है—सञ्ज्वलन क्रोध, २ सञ्ज्वलन मान, ३ सञ्ज्वलन माया और ४ सञ्ज्वलन लोभ।

मन्दवुद्धियो को समझाने के लिये ४ प्रकार के कषायों का स्वरूप.—

जाजीववरिसचउमासपक्खगा नरयतिरिय नर अमरा।
सम्माणुसव्वविरईअहखायचरित्तघायकरा ॥ १८ ॥

उक्त अनन्तानुवन्धी आदि चार कषाय क्रमशः (जाजीव वरिस चउमास पक्खगा) यावत् जीव, वर्ष चतुर्मास और पक्ष तक रहते है और वे (नरयतिरियनरअमरा) नरक गति, तिर्यञ्च गति मनुष्य गति तथा देवगति के कारण हैं, और (सम्माणुसव्व-विरईअहखायचरित्त घायकरा) सम्यक्त्व, अणु विरति, सर्व विरति तथा यथाख्यात चरित्र का घात करते है।

भावार्थ—(१) अनन्तानुवन्धी कषाय वे है, जो जीवन पर्यन्त वने रहें, जिनसे नरक गति योग्य कर्मो का वन्ध हो और सम्यग्दर्शन का घात होता हो।

(२) अप्रत्याख्यानावरणकपाय, एक वर्ष तक वने रहते है, उनके उदय से तिर्यञ्च गति योग्य कर्मो का वन्ध होता है और देश विरति रूप चरित्र होने नहीं पाता।

(३) प्रत्याख्यानावरण कपायों की स्थिति चार महीने की है, उनके उदय से मनुष्य गति योग्य कर्मो का वन्ध होता है और सर्व विरतिरूप चारित्र नही होने पाता।

(४) सञ्ज्वलन कपाय, एक पक्ष तक रहते है, उनके उदय से देव गति योग्य कर्मो का वन्ध होता है और यथाख्यातचरित्र नहीं होने पाता।

कषायों के विषय में ऊपर जो कहा गया है, वह व्यवहार [illegible]: क्योंकि वाहुवलि आदि को सञ्ज्वलन कपाय एक

अब दृष्टांतों के द्वारा चार प्रकार का मान कहा जाता है:-

१-बेत को बिना मेहनत नमाया जा सकता है, उसी प्रकार, मान का उदय होने पर जो जीव अपने आग्रह को छोड़ कर शीघ्र नम जाता है, उसके मान को संज्वलन मान कहते हैं।

२-सूखा काठ तेल वगैरह की मालिश करने पर नमता है, उसी प्रकार जिस जीव का अभिमान उपायों के द्वारा मुश्किल से दूर किया जाय, उसके मान को प्रत्याख्यानावरण मान कहते हैं।

३-हड्डी को नमाने के लिये बहुत से उपाय करने पड़ते हैं और बहुत मेहनत उठानी पडती है; उसी प्रकार जो मान, बहुत से उपायों से और अति परिश्रम से दूर किया जा सके, वह अप्रत्याख्यानावरण मान है।

४-चाहे जितने उपाय किये जायें तो भी पत्थर का खम्भा जैसे नहीं नमता; उसी प्रकार जो मान कभी भी दूर नहीं किया जा सके, वह अनन्तानुबन्धी मान है।

दृष्टान्तों के द्वारा माया और लोभ का स्वरूप कहते हैं:-

मायावलेहिगोमुत्तिमिढसिंगघणवंसिमूलसमा ।
लोहो हलिद्दखंजणकद्दमकिमिरागसामाणी ॥२०॥

(अवलेहिगोमुत्तिमिढसिंगघणवंसिमूलसमा) अवलेखिका, गोमूत्रिका, मेषशृंग और घनवंशीमूल के समान (माया) माया, [illegible]र प्रकार की है। (हलिद्दखंजणकद्दमकिमिरागसामाणी) हरिद्रा, [illegible]न, कर्दम और कृमिराग के समान (लोहो) लोभ चार प्रकार [illegible] ॥२०॥

भावार्थ—माया का अर्थ है कपट, स्वभाव का टेढ़ापन, [illegible] और, और बोलना या करना कुछ और। इसके चार

अब दृष्टांतों के द्वारा चार प्रकार का मान कहा जाता है:-

१-बेत को बिना मेहनत नमाया जा सकता है, उसी प्रकार, मान का उदय होने पर जो जीव अपने आग्रह को छोड़ कर शीघ्र नम जाता है, उसके मान को संज्वलन मान कहते है।

२-सूखा काठ तेल वगैरह की मालिश करने पर नमता है, उसी प्रकार जिस जीव का अभिमान उपायों के द्वारा मुश्किल से दूर किया जाय, उसके मान को प्रत्याख्यानावरण मान कहते है।

३-हड्डी को नमाने के लिये बहुत से उपाय करने पड़ने है और बहुत मेहनत उठानी पडती है; उसी प्रकार जो मान, बहुत से उपायों से और अति परिश्रम से दूर किया जा सके, वह अप्रत्याख्यानावरण मान है।

४-चाहे जितने उपाय किये जायें तो भी पत्थर का खम्भा जैसे नही नमता; उसी प्रकार जो मान कभी भी दूर नही किया जा सके, वह अनन्तानुबन्धी मान है।

दृष्टान्तों के द्वारा माया और लोभ का स्वरूप कहते है -

मायावलेहिगोमुत्तिमिढसिंगघणवंसिमूलसमा।
लोहो हलिद्दखंजणकद्दमकिमिरागसामाणी ॥२०॥

(अवलेहिगोमुत्तिमिढसिगघणवंसिमूलसभा) अवलेखिका, गोमूत्रिका, मेषशृंग और घनवंशीमूल के समान (माया) माया, चार प्रकार की है। (हलिद्दखंजणकद्दमकिमिरागसामाणी) हरिद्रा, खञ्जन, कर्दम और कृमिराग के समान (लोहो) लोभ चार प्रकार का है ॥२०॥

भावार्थ—माया का अर्थ है कपट, स्वभाव का टेढ़ापन, मन में कुछ और, और बोलना या करना कुछ और। इसके चार भेद है —

अब दृष्टांतों के द्वारा चार प्रकार का मान कहा जाता है:-

१-वेत को विना मेहनत नमाया जा सकता है, उसी प्रकार, मान का उदय होने पर जो जीव अपने आग्रह को छोड़ कर शीघ्र नम जाता है, उसके मान को संज्वलन मान कहते हैं।

२-सूखा काठ तेल वगैरह की मालिश करने पर नमता है, उसी प्रकार जिस जीव का अभिमान उपायों के द्वारा मुश्किल से दूर किया जाय, उसके मान को प्रत्याख्यानावरण मान कहते हैं।

३-हड्डी को नमाने के लिये बहुत से उपाय करने पड़ने हैं और वहुत मेहनत उठानी पड़ती है; उसी प्रकार जो मान, वहुत से उपायों से और अति परिश्रम से दूर किया जा सके, वह अप्रत्याख्यानावरण मान है।

४-चाहे जितने उपाय किये जाये तो भी पत्थर का खम्भा जैसे नही नमता; उसी प्रकार जो मान कभी भी दूर नही किया जा सके, वह अनन्तानुवन्धी मान है।

दृष्टान्तों के द्वारा माया और लोभ का स्वरूप कहते हैं:-

मायावलेहिगोमुत्तिमिंढसिंगघणवंसिमूलसमा ।
लोहो हलिद्दखंजणकद्दमकिमिरागसामाणी ॥२०॥

(अवलेहिगोमुत्तिमिढसिगघणवंसिमूलसभा) अवलेखिका, गोमूत्रिका, मेषशृंग और धनवशीमूल के समान (माया) माया, चार प्रकार की है। (हलिद्दखंजणकद्दमकिमिरागसामाणी) हरिद्रा, खञ्जन, कर्दम और कृमिराग के समान (लोहो) लोभ चार प्रकार का है ॥२०॥

भावार्थ—माया का अर्थ है कपट, स्वभाव का टेढ़ापन, मन में कुछ और, और बोलना या करना कुछ और। इसके चार भेद है:—

नोकषाय मोहनीय के हास्य आदि छह भेद:—

जस्सुदया होइ जिए हास रई अरइ सोग भय कुच्छा ।
सनिमित्तमन्नहा वा तं इह हासाइमोहणियं ॥ २१ ॥

(जस्सुदया) जिस कर्म के उदय से (जिए) जीव में अर्थात् जीव को (हास) हास्य, (रई) रति, (अरइ) अरति (सोग) शोक, (भय) भय और (कुच्छा) जुगुप्सा (सनिमित्त) कारण वश (वा) अथवा (अन्नहा) अन्यथा–विना कारण (होइ) होती है, (त) वह कर्म (इह) इस शास्त्र मे (हासाइमोहणिय) हास्य आदि मोहनीय कहा जाता है ॥२१॥

भावार्थ—सोलह कषायों का वर्णन पहले हो चुका है। नव नोकषाय बाकी है, उनमे से छह नोकषायों का स्वरूप इस गाथा के द्वारा कहा जाता है, बाकी के तीन नोकषायों को अगली गाथा से कहेगे। छह नोकषायों के नाम और उनका स्वरूप इस प्रकार है.—

१–जिस कर्म के उदय से कारणवश अर्थात् भांड आदि की चेष्टा को देखकर अथवा विना कारण हंसी आती है, वह हास्य-मोहनीय कर्म कहलाता है।

यहा यह संशय होता है कि, विना कारण हंसी किस प्रकार आवेगी ? उसका समाधान यह है कि तात्कालिक बाह्य कारण की अविद्यमानता मे मानसिक विचारो के द्वारा जो हंसी आती है वह विना कारण की है। तात्पर्य यह है कि तात्कालिक बाह्य पदार्थ हास्य आदि में निमित्त हों तो सकारण, और सिर्फ मानसिक विचार ही निमित्त हों तो अकारण, ऐसा विवक्षित है।

२–जिस कर्म के उदय से कारणवश अथवा विना कारण पदार्थों मे अनुराग हो–प्रेम हो, वह रतिमोहनीय कर्म है।

नोकषाय मोहनीय के हास्य आदि छह भेदः—

जस्सुदया होइ जिए हास रई अरइ सोग भय कुच्छा ।
सनिमित्तमन्नहा वा तं इह हासाइमोहणियं ॥ २१ ॥

(जस्सुदया) जिस कर्म के उदय से (जिए) जीव में अर्थात् जीव को (हास) हास्य, (रई) रति, (अरइ) अरति (सोग) शोक, (भय) भय और (कुच्छा) जुगुप्सा (सनिमित्त) कारण वश (वा) अथवा (अन्नहा) अन्यथा-बिना कारण (होइ) होती है, (त) वह कर्म (इह) इस शास्त्र मे (हासाइमोहणिय) हास्य आदि मोहनीय कहा जाता है ॥२१॥

भावार्थ—सोलह कषायो का वर्णन पहले हो चुका है। नव नोकषाय बाकी है, उनमें से छह नोकषायों का स्वरूप इस गाथा के द्वारा कहा जाता है, बाकी के तीन नोकषायों को अगली गाथा से कहेंगे। छह नोकषायों के नाम और उनका स्वरूप इस प्रकार है:—

१-जिस कर्म के उदय से कारणवश अर्थात् भाड आदि की चेष्टा को देखकर अथवा विना कारण हसी आती है, वह हास्य-मोहनीय कर्म कहलाता है।

यहा यह सशय होता है कि, विना कारण हंसी किस प्रकार आवेगी ? उसका समाधान यह है कि तात्कालिक वाह्य कारण की अविद्यमानता में मानसिक विचारों के द्वारा जो हसी आती है वह बिना कारण की है। तात्पर्य यह है कि तात्कालिक वाह्य पदार्थ हास्य आदि में निमित्त हों तो सकारण, और सिर्फ मानसिक विचार ही निमित्त हों तो अकारण, ऐसा विवक्षित है।

२-जिस कर्म के उदय से कारणवश अथवा विना कारण पदार्थों मे अनुराग हो-प्रेम हो, वह रतिमोहनीय कर्म है।

१–वांस का छिलका टेढ़ा होता है, पर विना मेहनत वह हाथ से सीधा किया जा सकता है, उसी प्रकार जो माया, विना परिश्रम दूर हो सके, उसे संज्वलनी माया कहते है।

२–चलता हुआ वैल जो मूतता है, उस मूत्र की टेढी लकीर जमीन पर मालूम होने लगती है, वह टेढ़ापन हवा से धूलि के गिरने पर नही मालूम देता, उसी प्रकार जिसका कुटिल स्वभाव, कठिनाई से दूर हो सके, उसकी माया को प्रत्याख्यानी माया कहते है।

३–भेड़ के सीग का टेढ़ापन वड़ी मुश्किल से अनेक उपायो के द्वारा दूर किया जा सकता है; उसी प्रकार जो माया, अत्यन्त परिश्रम से दूर की जा सके, उसे अप्रत्याख्यानावरणी माया कहते है।

४–कठिन बांस की जड़ का टेढ़ापन किसी भी उपाय से दूर नही किया जा सकता, उसी प्रकार जो माया, किसी प्रकार दूर न हो सके, उसे अनन्तानुबन्धिनी माया कहते हैं।

धन, कुटुम्ब, शरीर आदि पदार्थो में जो ममता होती है, उसे लोभ कहते है। इसके चार भेद हैं, जिन्हें दृष्टान्तों के द्वारा दिखलाते हैं:—

१–सजवलन लोभ, हल्दी के रङ्ग के सदृश है, जो सहज ही मे छूटता है।

२–प्रत्याख्यानावरण लोभ दीप के कज्जल के सदृश है, जो कष्ट से छटता है।

३–अप्रत्याख्यानावरण लोभ गाड़ी के पहिये के कीचड़ के सदृश है, जो अति कष्ट से छटता है।

४–अनन्तानुवन्धी लोभ, किरमिजी रङ्ग के सदृश है, जो किसी उपाय से नहीं छूट सकता।

नोकषाय मोहनीय के हास्य आदि छह भेद:—

जस्सुदया होइ जिए हास रई अरइ सोग भय कुच्छा ।
सनिमित्तमन्नहा वा तं इह हासाइमोहणियं ॥ २१ ॥

(जस्सुदया) जिस कर्म के उदय से (जिए) जीव में अर्थात् जीव को (हास) हास्य, (रई) रति, (अरइ) अरति (सोग) शोक, (भय) भय और (कुच्छा) जुगुप्सा (सनिमित्त) कारण वश (वा) अथवा (अन्नहा) अन्यथा-विना कारण (होइ) होती है, (त) वह कर्म (इह) इस शास्त्र मे (हासाइमोहणिय) हास्य आदि मोहनीय कहा जाता है ॥२१॥

भावार्थ—सोलह कषायो का वर्णन पहले हो चुका है। नव नोकषाय बाकी है, उनमें से छह नोकषायो का स्वरूप इन गाथा के द्वारा कहा जाता है, बाकी के तीन नोकषायों को अगली गाथा से कहेगे। छह नोकषायो के नाम और उनका स्वरूप इस प्रकार है:—

१—जिस कर्म के उदय से कारणवश अर्थात् भांड आदि की चेष्टा को देखकर अथवा विना कारण हंसी आती है, वह हास्य-मोहनीय कर्म कहलाता है।

यहा यह सशय होता है कि, विना कारण हंसी किस प्रकार आवेगी ? उसका समाधान यह है कि तात्कालिक बाह्य कारण की अविद्यमानता मे मानसिक विचारो के द्वारा जो हंसी आती है वह विना कारण की है। तात्पर्य यह है कि तात्कालिक बाह्य पदार्थ हास्य आदि मे निमित्त हों तो सकारण, और सिर्फ मानसिक विचार ही निमित्त हो तो अकारण, ऐसा विवक्षित है।

२—जिस कर्म के उदय से कारणवश अथवा विना कारण पदार्थों मे अनुराग हो—प्रेम हो, वह रतिमोहनीय कर्म है।

१–वास का छिलका टेढा होता है, पर विना मेहनत वह हाथ से सीधा किया जा सकता है, उसी प्रकार जो माया, विना परिश्रम दूर हो सके, उसे संज्वलनी माया कहते हैं।

२–चलता हुआ वैल जो मूतता है, उस मूत्र की टेढी लकीर जमीन पर मालूम होने लगती है, वह टेढ़ापन हवा से, धूलि के गिरने पर नही मालूम देता, उसी प्रकार जिसका कुटिल स्वभाव, कठिनाई से दूर हो सके, उसकी माया को प्रत्याख्यानी माया कहते है।

३–भेड़ के सीग का टेढ़ापन वड़ी मुश्किल से अनेक उपायो के द्वारा दूर किया जा सकता है; उसी प्रकार जो माया, अत्यन्त परिश्रम से दूर की जा सके, उसे अप्रत्याख्यानावरणी माया कहते है।

४–कठिन बास की जड़ का टेढ़ापन किसी भी उपाय से दूर नही किया जा सकता, उसी प्रकार जो माया, किसी प्रकार दूर न हो सके, उसे अनन्तानुबन्धिनी माया कहते है।

धन, कुटुम्ब, शरीर आदि पदार्थो में जो ममता होती है, उसे लोभ कहते है। इसके चार भेद हैं, जिन्हें दृष्टान्तों के द्वारा दिखलाते हैं.—

१–सज्वलन लोभ, हल्दी के रङ्ग के सदृश है, जो सहज ही मे छूटता है।

२–प्रत्याख्यानावरण लोभ दीप के कज्जल के सदृश है, जो कष्ट से छटता है।

३–अप्रत्याख्यानावरण लोभ गाड़ी के पहिये के कीचड़ के सदृश है, जो अति कष्ट से छुटता है।

४–अनन्तानुवन्धी लोभ, किरमिजी रङ्ग के सदृश है, जो किसी उपाय से नही छूट सकता।

नोकपाय मोहनीय के हास्य आदि छह भेद:—

जस्सुदया होइ जिए हास रई अरइ सोग भय कुच्छा ।
सनिमित्तमन्नहा वा तं इह हासाइमोहणियं ॥ २१ ॥

(जस्सुदया) जिस कर्म के उदय से (जिए) जीव में अर्थात् जीव को (हास) हास्य, (रई) रति, (अरइ) अरति (सोग) शोक, (भय) भय और (कुच्छा) जुगुप्सा (सनिमित्त) कारण वश (वा) अथवा (अन्नहा) अन्यथा–विना कारण (होइ) होती है, (त) वह कर्म (इह) इस शास्त्र में (हासाइमोहणिय) हास्य आदि मोहनीय कहा जाता है ॥२१॥

भावार्थ—सोलह कषायो का वर्णन पहले हो चुका है। नव नोकपाय बाकी है, उनमें से छह नोकपायो का स्वरूप इस गाथा के द्वारा कहा जाता है, बाकी के तीन नोकपायों को अगली गाथा से कहेंगे। छह नोकपायों के नाम और उनका स्वरूप इस प्रकार है.—

१–जिस कर्म के उदय से कारणवश अर्थात् भांड आदि की चेष्टा को देखकर अथवा विना कारण हसी आती है, वह हास्य-मोहनीय कर्म कहलाता है।

यहां यह संशय होता है कि, विना कारण हसी किस प्रकार आवेगी ? उसका समाधान यह है कि तात्कालिक बाह्य कारण की अविद्यमानता में मानसिक विचारों के द्वारा जो हसी आती है वह विना कारण की है। तात्पर्य यह है कि तात्कालिक बाह्य पदार्थ हास्य आदि में निमित्त हो तो सकारण, और सिर्फ मानसिक विचार ही निमित्त हो तो अकारण, ऐसा विवक्षित है।

२–जिस कर्म के उदय से कारणवश अथवा विना कारण पदार्थों में अनुराग हो–प्रेम हो, वह रतिमोहनीय कर्म है।

३–जिस कर्म के उदय से कारणवश अथवा विना कारण पदार्थों से अप्रीति हो, उद्वेग हो, वह अरतिमोहनीय कर्म है।

४–जिस कर्म के उदय से कारणवश अथवा विना कारण शोक हो, वह शोक मोहनीय कर्म है।

५–जिस कर्म के उदय से कारणवश अथवा बिना कारण भय हो, वह भयमोहनीय कर्म है।

भय सात प्रकार का है—१ इहलोक भय–जो दुष्ट मनुष्यों को तथा बलवानों को देखकर होता है। २ परलोक भय–मृत्यु होने के बाद कौन सी गति मिलेगी, इस बात को लेकर डरना। ३ आदान भय—चोर, डाकू आदि से होता है। ४ अकस्मात भय-विजली आदि से होता है। ५ आजीविका भय–जीवन निर्वाह के विषय में होता है। ६ मृत्यु भय–मृत्यु से डरना और ७ अपयश भय–अपकीर्त्ति से डरना।

६–जिस कर्म के उदय से कारणवश अथवा विना कारण, मांसादि वीभत्स पदार्थों को देखकर घृणा होती है, वह जुगुप्सा मोहनीय कर्म है।

नोकषाय मोहनीय के अन्तिम तीन भेद—

पुरिसित्थि तदुभयं पइ अहिलासो जव्वसा हवइ सोउ।
थीनरनपुवेउदओ फुंफुमतणनगरदाहसमो ॥ २२ ॥

(जव्वसा) जिसके वश से, जिसके प्रभाव से (पुरिसित्थि-तदुभयं पइ) पुरुष के प्रति, स्त्री के प्रति तथा स्त्री पुरुष दोनों के प्रति (अहिलासो) अभिलाष–मैथुन की इच्छा (हवइ) होती है, (सो) वह क्रमशः (थीनरनपुवेउदओ) स्त्रीवेद, पुरुषवेद तथा नपुंसकवेद का उदय है। इन तीनो विदो का स्वरूप (फुंफुमतणनगरदाहसमो) करीषाग्नि, तृणाग्नि और नगरदाह के समान है ॥ २२ ॥

भावार्थ—नोकषाय मोहनीय के अन्तिम तीन भेदों के नाम १ स्त्री वेद, २ पुरुषवेद और ३ नपुंसकवेद है।

१—जिस कर्म के उदय से स्त्री को पुरुष के साथ भोग करने की इच्छा होती है, वह स्त्रीवेद कर्म है। अभिलाषा में दृष्टान्त करीषाग्नि है। करीष सूखे गोबर को कहते हैं, उसकी आग जैसी जैसी जलाई जाय वैसी ही वैसी बढ़ती है; उसी प्रकार पुरुष के कर-स्पर्शादि व्यापार से स्त्री की अभिलाषा बढ़ती है।

२—जिस कर्म के उदय से पुरुष को स्त्री के साथ भोग करने की इच्छा होती है, वह पुरुषवेद कर्म है। अभिलाषा में दृष्टान्त तृणाग्नि है। तृण की अग्नि शीघ्र ही जलती और शीघ्र ही बुझती है, उसी प्रकार पुरुष को अभिलाषा शीघ्र होती है और स्त्री-सेवक के बाद शीघ्र शान्त होती है।

३—जिस कर्म के उदय से स्त्री और पुरुष दोनों के साथ भोग करने की इच्छा होती है, वह नपुंसकवेद कर्म है। अभिलाषा में दृष्टान्त, नगर-दाह है। शहर में आग लगे तो बहुत दिनों में शहर को जलाती है और उस आग के बुझाने में भी बहुत दिन लगते हैं; उसी प्रकार नपुंसकवेद के उदय से उत्पन्न हुई अभिलाषा चिरकाल तक निवृत्त नहीं होती और विषय-सेवन से तृप्ति भी नहीं होती। इस प्रकार मोहनीय कर्म का व्याख्यान समाप्त हुआ। अब—

आयु कर्म और नाम कर्म के स्वरूप और भेदों को कहते हैं—

सुरनरतिरिनरयाऊ हडिसरिसं नामकम्म चित्तिसमं।
बायालतिनवइविहं तिउत्तरसयं च सत्तट्ठी ॥२३॥

(सुरनरतिरिनरयाऊ) सुरायु, नरायु, तिर्यञ्चायु और नरकायु इस प्रकार आयु कर्म के चार भेद हैं। आयु कर्म का स्वभाव

(हडिसरिसं) हडि के समान है। और (नाम कम्म) नाम कर्म (चित्तिसमं) चित्री-चित्रकार-चितेरे के समान है। वह नाम कर्म (वायालतिनवइविहं) बयालीस प्रकार का, तिरानवे प्रकार का (तिउत्तरसय) एक सौ तीन प्रकार का (च) और (सत्तट्ठी) सरसठ प्रकार का है ॥२३॥

भावार्थ—आयु कर्म की उत्तर प्रकृतिया चार है—१ देवायु २ मनुष्यायु, २ तिर्यञ्चायु और ४ नरकायु। आयु कर्म का स्वभाव कारागृह (जेल) के समान है। जैसे, न्यायाधीश अपराधी को उसके अपराध के अनुसार अमुक काल तक जेल मे डालता है और अपराधी चाहता भी है कि मैं जेल से निकल जाऊ परन्तु अवधि पूरी हुये बिना नही निकल सकता; वैसे ही आयु कर्म जव तक बना रहता है तब तक आत्मा स्थूल-शरीर को नही त्याग सकता। जब आयु कर्म को पूरी तौर से भोग लेता है तभी वह शरीर को छोड़ देता है। नारक जीव, नरक भूमि मे इतने अधिक दु.खी रहते है कि वे वहां जीने की अपेक्षा मरना ही पसन्द करते है परन्तु आयु कर्म के अस्तित्व से—अधिक काल तक भोगने योग्य आयु कर्म के बने रहने से उनकी मरने की इच्छा पूर्ण नही होती।

उन देवों और मनुष्यों को, जिन्हे कि विषय-भोग के साधन प्राप्त है, जीने की प्रबल इच्छा रहते हुये भी, आयु कर्म के पूर्ण होते ही परलोक सिधारना पडता है। अर्थात् जिस कर्म के अस्तित्व से प्राणी जीता है और क्षय से मरता है, उसे आयु कहते है। आयु कर्म दो प्रकार है.—१ अपवर्त्तनीय और २ अनपवर्त्तनीय।

१—वाह्यनिमित्त से जो आयु कम हो जाती है, उसको अपवर्त्तनीय या अपवर्त्त्य आयु कहते है। तात्पर्य यह है कि जल में डूवने, आग मे जलने, शस्त्र की चोट, जहर खाने आदि वाह्य कारणों से शेष आयु को, जो कि पच्चीस-पचास आदि वर्षो तक

भोगने योग्य है, अन्तर्मुहूर्त मे भोग लेना आयु का अपवर्तन है। इसी आयु को दुनिया में "अकाल मृत्यु" कहते हैं।

२-जो आयु किसी भी कारण से कम न हो सके, अर्थात् जितने काल तक की पहले बाधी गई है, उतने काल तक भोगी जावे, उस आयु को अनपवर्त्य आयु कहते हैं।

देव, नारक, चरम शरीरी अर्थात् उसी शरीर से मोक्ष जाने वाले, उत्तम पुरुष अर्थात् तीर्थकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव आदि और जिनकी आयु असंख्यात वर्षो की है ऐसे मनुष्य और तिर्यञ्च, इनकी आयु अनपवर्तनीय ही होती है। इनमे इतर जीवों की आयु का नियम नही है। किसी जीव की अपवर्तनीय और किसी की अनपवर्तनीय होती है।

नाम कर्म चित्रकार के समान है, जैसे चित्रकार नाना भांति के मनुष्य, हाथी, घोड़ आदि को चित्रित करता है, ऐसे ही नाम कर्म नाना भांति के देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नारकों की रचना करता है।

नाम कर्म की संख्या कई प्रकार से कही गई है। किसी अपेक्षा से उसके ४२ भेद है, किसी अपेक्षा से ९३ भेद भी है, किसी अपेक्षा से १०३ भेद है, और किसी अपेक्षा से ६७ भेद भी है।

नाम कर्म के ४२ भेदो को कहने के लिये १४ पिण्डप्रकृतिया—

गइजाइतणुउवंगा बंधणसंघायणाणि संघयणा।
संठाणवण्णगंधरसफासअणुपुव्विविहग गई ॥२४॥

(गई) गति, (जाइ) जाति, (तणु) तनु, (उवगा) उपाङ्ग, (बंधण) बन्धन, (सघायणाणि) सघातन, (सघयणा) सहनन, (सठाण) सस्थान, (वण्ण) वर्ण, (गंध) गन्ध, (रस) रस, (फास) स्पर्श, (अणुपुव्वि) आनुपूर्वी, और (विहगगइ) विहायोगति, ये

चौदह पिण्डप्रकृतिया है ॥ २४ ॥

भावार्थ–नाम कर्म की जो पिण्डप्रकृतियां हैं, उनके १४ भेद है, प्रत्यक के साथ 'नाम' शब्द को जोड़ देना चाहिये । जैसे गतिनाम । इसी प्रकार अन्य प्रकृतियों के साथ 'नाम' शव्द को जोड़ देना चाहिये । पिण्डप्रकृति का अर्थ २५ वीं गाथा मे कहेंगे।

१–जिस कर्म के उदय से जीव, देव नारक आदि अवस्थाओं को प्राप्त करता है, उसे गति नाम कर्म कहते है ।

२–जिस कर्म के उदय से जीव, एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय आदि कहा जाय, उसे जाति नाम कर्म कहते है ।

३–जिस कर्म के उदय से जीव को औदारिक, वैक्रिय आदि शरीरों की प्राप्ति हो, उसे तनुनाम कर्म या शरीर नाम कर्म कहते हैं ।

४–जिस कर्म के उदय से जीव के अङ्ग (सिर, पैर आदि) और उपाङ्ग (ऊंगली, कपाल आदि) के आकार में पुद्गलो क परिणमन होता है, उसे अङ्गोपाङ्गनाम कर्म कहते हैं ।

५–जिस कर्म के उदय से प्रथम ग्रहण किये हुये औदारि आदि शरीर पुद्गलो के साथ गृह्यमाण औदारिक आदि पुद्गल का आपस में सम्बन्ध हो, उसे बन्धननाम कर्म कहते है ।

६–जिस कर्म के उदय से शरीर-योग्य पुद्गल, प्रथम ग्रह किये हुए शरीर पुद्गलो पर व्यवस्थित रुप से स्थापित कि जाते है, उसे सङ्घातन नाम कर्म कहते हैं ।

७–जिस कर्म के उदय से, शरीर में हाड़ों की सन्धिय (जोड़) दृढ होती हैं, जैसे कि लोहे की पट्टियों से किवाड़ मजबू किये जाते है, उसे सहनननाम कर्म कहते है ।

८–जिसके उदय से, शरीर के जुदे-जुदे शुभ या अशु

आकर होते है, उसे सस्थाननाम कर्म कहते है ।

९–जिसके उदय से शरीर में कृष्ण, गौर आदि रङ्ग होते है, उसे वर्णनाम कर्म कहते है ।

१०–जिसके उदय से शरीर की अच्छी या बुरी गन्ध हो, उसे गन्धनाम कर्म कहते है ।

११–जिसके उदय से शरीर मे खट्टे, मीठे आदि रसों की उत्पत्ति होती है, उसे रसनाम कर्म कहते है ।

१२–जिसके उदय से शरीर में कोमल, रूक्ष आदि स्पर्श हो उसे स्पर्शनाम कर्म कहते है ।

१३–जिस कर्म के उदय से जीव विग्रहगति में अपने उत्पत्ति स्थान पर पहुचता है, उसे आनुपूर्वीनाम कर्म कहते है ।

आनुपूर्वी नाम कर्म के लिए नाथ का दृष्टात दिया गया है । जैसे इधर-उधर भटकते हुए बैल को नाथ के द्वारा जहां चाहते हैं, ले जाते है, उसी प्रकार जीव जब समश्रेणी से जाने लगता है, तव आनुपूर्वी कर्म, उसे जहां उत्पन्न होना हो वहा पहुंचा देता है ।

१४–जिस कर्म के उदय से जीव की चाल (चलना) हाथी या बेल की चाल के समान शुभ अथवा ऊट या गधे की चाल के समान अशुभ होती है, उसे विहायोगति नाम कर्म कहते है ।

प्रश्न—विहायस् आकाश को कहते है । वह सर्वत्र व्याप्त है । उसको छोड़कर अन्यत्र गति हो ही नहीं सकती, फिर 'विहायस्' शब्द गति का विशेषण क्यों ? (**उत्तर**—विहायस् विशेषण न रखकर सिर्फ गति कहेंगे तो नाम कर्म की प्रथम प्रकृतिका नाम भी गति होने के कारण पुनरुक्त दोष की शका हो जाती । इसलिए विहायस् विशेपण दिया है, जिससे जीव की चाल के अर्थ मे गति शब्द को समझा जाय, न कि देवगति, नारकगति आदि के अर्थ में ।)

प्रत्येक प्रकृति के आठ भेदः—

पिंडपयडित्ति चउदस परघाउस्सासआयवुज्जोयं ।

अगुरुलहूतित्थनिमिणोवघायमिय अट्ठ पत्तेया ॥२५॥

(पिडपयडित्ति चउदस) इस प्रकार पूर्व गाथा मे कही हुई प्रकृतियां, पिण्डप्रकृतियां कहलाती है और उनकी संख्या चौदह है। (परघा) पराघात, (उत्सास) उच्छवास, (आयवुज्जोय) आतप, उद्योत (अगुरुलहु) अगुरुलघु, (तित्थ) तीर्थ कर, (निमिण) निर्माण, और (उवघायं) उपघत्, (इय) इस प्रकार (अट्ठ) आठ (पत्तेया) प्रत्येक प्रकृतियां है ॥२५॥

भावार्थ—'पिडपयडित्ति चउदस' वाक्य का सम्बन्ध २४ वी गाथा के साथ है। उसमे कही हुई गति, जाति आदि १४ प्रकृतियों को 'पिडप्रकृति' कहने का मतलब है कि उनमे से हर एक के भेद है जैसे, गति नाम के चार भेद, जाति नाम के पाच भेद आदि। पिडित का अर्थात् समुदाय का ग्रहण होने से 'पिड-प्रकृति' कही जाती है।

प्रत्येक प्रकृति के आठ भेद हैं। उनके हर एक के साथ 'नाम' शब्द को जोड़ना चाहिये। जैसे कि पराघात नाम, उच्छवास नाम आदि प्रत्येक का मतलब एक-एक से है अर्थात् ये आठों प्रकृतिया एक ही एक है इनके भेद नहीं है। इसलिये ये प्रकृतिया, 'प्रत्येक प्रकृति' कही जाती है। वे ये हैः—पराघात नाम कर्म, २ उच्छवास नाम कर्म, ३ आतप नाम कर्म, ४ उद्योग नाम कर्म, ५ अगुरुलघु नाम कर्म, ६ तीर्थंकर नाम कर्म, ७ निर्माण नाम कर्म और ८ उपघात नाम कर्म। इन प्रकृतियों का अर्थ यहां इसलिये नहीं कहा गया कि खुद ग्रन्थकार ही आगे कहने वाले है।

त्रस-दशक शब्द से कौन-कौन प्रकृतियां ली जाती हैः—

तस बायर पज्जत्तं पत्तेय थिरं सुभं च सुभगं च ।
सुसराइज्ज जसं तसदसगं थावरदसं तु इमं ॥२६॥

(तस) त्रस, (बायर) वादर, (पज्जत्तं) पर्याप्त, (पत्तेय) प्रत्येक (थिर) स्थिर, (सुभं) शुभ, (सुभगं) सुभग, (सुसराइज्ज) सुस्वर, आदेय (च) और (जस) यश.कीर्त्ति, ये प्रकृतियां (तस-दसगं) 'त्रस–दसक' कही जाती है। (थावरदसं तु) 'स्थावर–दशक' तो (इमं) यह, जिन्हें कि आगेकी गाथा में कहेंगे ॥ २६ ॥

भावार्थ–यहा भी प्रत्येक-प्रकृतिक के साथ नाम शब्द को जोड़ना चाहिये।जैसे कि त्रसनाम, बादरनाम आदि। त्रस से लेकर यश.कीर्त्ति तक गिनती में दस प्रकृतिया है, इसलिये ये प्रकृतिया त्रस दशक कही जाती है। इसी प्रकार स्थावर-दशक को भी समझना चाहीये; जिसे कि आगे की गाथामे कहने वाले है। त्रस–दशक की प्रकृतियोके नामः—१ त्रस नाम, २ वादर नाम, ३ पर्याप्त नाम, ४ प्रत्येक नाम, ५ स्थिर नाम, ६ शुभनाम, ७ सुभग नाम, ८ सुस्वर नाम, ९ आदेय नाम ओर १० यशःकीर्त्ति नाम। इन प्रकृतियों का स्वरुप आगे कहा जायगा।

स्थावर-दशक शब्द से कौन-कौन प्रकृतियां ली जाती है–

थावर सुहुम अपज्जं साहारणअथिरअसुभदुभगाणि ।
दुस्सर ऽणाइज्जाजजमिय नाभे सेयरा बीसं ॥ २७ ॥

(थावसं) स्थावर, (सुहुम) सूक्ष्म, (अपज्ज) अपर्याप्त, (सहारण) साधारण, (अथिर) अस्थिर, (असुभ) अशुभ, (दुभगाणी) दुर्भग. (दुस्सरऽणाइज्जाजसं) दुःस्वर, अनादेय ओर अयशःकीर्त्ति, (इय) इस प्रकार (नामे) नाम कर्म में

(सेयरा) इतर अर्थात् त्रसदशक के साथ स्थावर-दशक को मिलाने से (वीसं) वीस प्रकृतिया होती है ॥२७॥

भावार्थ—त्रस-दशक मे जितनी प्रकृतिया है, उनकी विरोधिनी प्रकृतिया स्थावर-दशक मे है। जैसे कि त्रसनामसे विपरीत स्थावरनाम, वादरनाम से विपरीत सूक्ष्मनाम, पर्याप्तनाम का प्रतीपक्षी अपर्याप्त नाम। इसी प्रकार शेष प्रकृतियोंमें भी समझना चाहीये। त्रस-दशक की गिनती पुण्य-प्रकृतियों में ओर स्थावर दशक की गिनती पाप-प्रकृतियों में है। इन २० प्रकृतियों को भी प्रत्येक-प्रकृति कहते है। अतएव २५ वी गाथा में कही हुई ८ प्रकृतियों को इनके साथ मिलाने से २८ प्रकृतिया, प्रत्येक प्रकृतिया हुई। नाम शद्व का प्रत्येक के साथ सम्वन्ध पूर्ववत् समझना चाहिये। जैसे कि—१ स्थावर नाम, २ सूक्ष्म नाम, ३ अपर्याप्त नाम, ४ साधारण नाम, ५ अस्थिर नाम, ६ अशुभ नाम, ७ दुर्भग नाम, ८ दुःस्वर नाम, ९ अनादेय नाम और १० अयशः-कीर्त्ति नाम।

"ग्रन्थलाघव के अर्थ, अनन्तरोक्त त्रस आदि बीस प्रकृतियों मे कतिपय सज्ञाओं को दो गाथाओ से कहते है—

तसचउ थिरछक्कं अथिरछक्क सुहुमतिग थावरचउक्कं।
सुभगतिगाइविभासा तदाइसंखाहिं पयडीहिं ॥२८॥

(तसचउ) त्रसचतुष्क, (थिरछक्क) स्थिरषट्क, (अथिरछक्क) अस्थिरषट्क (सुहुमतिग) सूक्ष्मत्रिक, (थावरचउक्क) स्थावरचतुष्क, (सुभगतिगाइविभासा) सुभगत्रिक आदि विभाषाये कर लेनी चाहिये। सङ्केत करने की रीति यह है कि (तदाइ सखाहि पयडीहि) सख्या की आदि मे जिस प्रकृतिका निर्देश किया गया हो उस प्रकृति से निर्दिष्ट सख्या की पूर्णता तक,

जितनी प्रकृतियां मिले, लेना चाहिये ॥२८॥

भावार्थ—सकेतो से शास्त्र का विस्तार नहीं होता, इसलिये संकेत करना आवश्यक है। सकेत, विभाषा, परिभाषा, संज्ञा, ये शद्ब समानार्थक है। यहा पर संकेत की पद्धति ग्रत्थकारने यों वतलाई है:–जिस सख्या के पहले, जिस प्रकृति का निर्देश किया हो, उस प्रकृति को जिस प्रकृति पर संख्या पूर्ण हो जाय उस प्रकृति को तथा बीच की प्रकृतियों को, उक्त संकेतों से लेना चाहिये। जैसे:—

त्रस-चतुष्क–१ त्रसनाम, २ बादरनाम, ३ पर्याप्तनाम और ४ प्रत्येकनाम, ये चार प्रकृतिया "त्रसचतुष्क" इस संकेत से ली गई है। ऐसे ही आगे भी समझना चाहिये।

स्थिर-षट्क–१ स्थिरनाम, २ शुभनाम, ३ सुभगनाम, ४ सुस्वरनाम, ५ आदेयनाम और ६ यश.कीर्तिनाम।

अस्थिर-षट्क– १अस्थिरनाम, २ अशुभनाम ३ दुर्भगनाम ४ दु.स्वरनाम, ५ अनादेयनाम और ६ अयशःकीर्त्तिनाम।

स्थावर-चतुष्क–१ स्थावरनाम, २ सूक्ष्मनाम, ३ अपर्याप्तनाम और ४ साधारणनाम।

सुभग-त्रिक—१ सुभगनाम, २ सुस्वरनाम और ३ आदेयनाम।

गाथा मे 'आदि' शद्ब है, इसलिये दर्भग-त्रिकका भी सग्रह कर लेना चाहिये।

दुर्भग-त्रिक—१ दुर्भग, २ दुःस्वर और ३ अनादेय।

वण्णचउ अगुरुलहुचउ तसाइदुतिचउरछक्कमिच्चाई।
इय अन्नावि विभासा, तयाइ संखाहि:पयडीहिं ॥२९॥

(वण्णचउ) वर्णचतुष्क, (अगुरुलहुचउ) अगुरुलघुचतुष्क,

(तसाइ दुतिचउरछक्कमिच्चाई) त्रसद्विक त्रस-त्रिक, त्रसचतुष्क, त्रसषट्क इत्यादि (इय) इस प्रकार (अन्नाविविभासा) अन्य विभाषाएं भी समझनी चाहिये, (तयाइसखाहि पयडीहि) तदादिसख्यक प्रकृतियों के द्वारा ॥२९॥

भावार्थ--पूर्वोक्त गाथा मे कुछ सङ्केत दिखलाये गये है, उसी प्रकार इस गाथा के द्वारा भी कुछ दिखलाये जाते है.—

वर्ण-चतुष्क---१ वर्णनाम, २ गन्धनाम, ३ रसनाम और ४ स्पर्शनाम, ये चार प्रकृतियां 'वर्णचतुष्क' सकेत से ली जाती है।

अगुरुलघु-चतुष्क---१ अगुरुलघुनाम, २ उपघातनाम, ३ पराघातनाम और ४ उच्छ्वासनाम।

त्रस-द्विक---१ त्रसनाम और वादरनाम।

त्रस-त्रिक---१ त्रसनाम, २ वादरनाम और ३ पर्याप्तनाम।

त्रस-चतुष्क---१ त्रसनाम, २ बादरनाम, ३ पर्याप्तनाम और ४ प्रत्येकनाम।

त्रस-षट्क---१ त्रसनाम, २ बादरनाम, ३ पर्याप्तनाम, ४ प्रत्येकनाम, ५ स्थिरनाम और ६ शुभनाम।

इनसे अन्य भी संकेत है। जैसे कि.--**स्त्यानर्द्धि-त्रिक**—१ स्त्यानर्द्धि, २ निद्रानिद्रा और ३ प्रचलाप्रचला।

२३ वीं गाथा में कहा गया था कि नाम कर्म की संख्यायें भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से भिन्न-भिन्न है अर्थात् उसके ४२ भेद भी है, और ९३ भेद भी है इत्यादि। ४२ भेद अब तक रहे गये। उन्हे यो समझना चाहिये:-१४ पिण्ड प्रकृतिया २४ वी गाथ मे कही गई; ८ प्रत्येक प्रकृतियां २५ वी गाथा में कही गई; त्रसदशक और स्थावरदशक को २० प्रकृतियां क्रमशः २६ वी और २७ वी गाथा में कही गई है। इन सव को मिलाने से नाम कर्म की ४२ प्रकृतियां हुई।

अब नाम कर्म के ९३ भेदों को कहने के लिए १४ पिण्ड प्रकृतियों की उत्तर प्रकृतिया कही जाती है —

गइयाईण उ कमसो चउपणपणतिपणपंचछच्छक्कं ।

पणदुगपणट्ठचउदुग इय उत्तरभेयपणसट्ठी ॥२३॥

(गइयाईण)गति आदि के (उ)तो (कमसो)क्रमशः(चउ) चार, (पण)पाच(पण)पाच(ति) तीन (पण) पाच, (पच)पाच, (छ) छह, (छक्क) छह, (पण) पाच, (दुग) दो (पणठ्ट) पाच, आठ, (चउ) चार, और (दुग) दो, (इय) इस प्रकार (उत्तरभेयपणसट्टी) उत्तर भेद पैसठ है ॥ ३० ॥

भावार्थ–२४ वी गाथा मे १४ पिण्डप्रकृतियों के नाम कहे गये है। इस गाथा में उनके हर एक के उत्तर-भेदो की सख्या कहते है जैसे १ गतिनाम कर्म के ४ भेद, २ जाति नाम कर्म के ५ भेद, ३ तनु (सरीर) नाम कर्म के ५ भेद , ४ उपाङ्ग नाम कर्म के ३ भेद, ५ बन्धन नाम कर्म के ५ भेद, ६ संघातन नाम कर्म के ५ भेद ,७ सहनन नाम कर्म के ६ भेद, ८सस्थान नाम कर्म के ६ भेद, ९ वर्ण-नाम कर्म के ५ भेद, १० गन्धनाम कर्म के २ भेद, ११ रसनाम कर्म के ५ भेद, १२स्पर्श नाम कर्म के आठ भेद, १३ आनुपूर्वी नाम कर्म के ४ भेद, १४ विहायोगति नाम कर्म के दो भेद, इस प्रकार उत्तर: भेदो की कुल सख्या ६५ होती है।

नाम कर्म की ९३, १०३ और ६७ प्रकृतियाँ.—

अडवीस जुया तिनवइ संते वा पनरबंधणे तिसय।

बंधणसंघायगहो तणूसु सामन्नवण्णचऊ ॥ ३१ ॥

(अडवीस जुआ) अट्टाईस प्रत्येक प्रकृतियों को पैसठ प्रकृ-तियों में जोड़ देनेसे (सते) सत्ता में (तिनवइ) तिरानवे भेद होते है। (वा) अथवा इन ९३ प्रकृतियों में (पनरवधणे) पन्द–

रह बधनों के वस्तुत दस बधनो के जोड़ देनेसे (सते) सत्ता मे (तिसय) एक सौ तीन प्रकृतिया होती है, (तणूसु) शरीरों में अर्थात शरीर के ग्रहण से (बधणसघायगहो) बधनो और सघातनों का ग्रहण होजाता है, और इसीप्रकार(सामन्नवन्नचऊ) सामान्य रुपसे वर्ण-चतुष्क का भी ग्रहण होता है ॥ ३१ ॥

भावार्थ-पूर्वोक्त गाथा में १४ पिन्डप्रकृतियों की सख्या, ६५ कही गई है ; उनमे २८ प्रत्येक प्रकृतिया अर्थात् ८ पराघात आदि, १० त्रस आदि, और १० स्थावर आदि, जोड़ दिये जांय नाम कर्म की ९३ प्रकृतिया सत्ता की अपेक्षा से समझना चाहिये। इन ९३ प्रकृतियों में, बधन नाम के ५ भेद जोड दिये गये है, परन्तु किसी अपेक्षा से बध नाम के १५ भेद भी होते है। ये सब, ९३ प्रकृतियों मे जोड़ दिये जाय तो नाम कर्म के १०३ भेद होंगे अर्थात् बधन नाम के १५ भेदो मेसे ५ भेद जोड़ देनेपर ९३भेद कह चुके है, अब सिर्फ बधन नाम के शेष १० भेद जोड़ना बाकी रह गया था, सो इनके जोड देनेसे ९३+१०=१०३ नाम कर्म के भेद सत्ता की अपेक्षासे हुये ।नाम कर्म की ६७प्रकृतिया इसप्रकार समझना चाहिये :—बन्ध नाम के १५ भेद और संघातन नाम के ५ भेद, ये २० प्रकृतिया, शरीर नाम के ५ भेदों मे शामिल की जाय, इसी तरह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श की २० उत्तर प्रकृतियों को चार प्रकृतियों में शामिल किया जाय । इस प्रकारवर्ण आदि की १६ तथा बन्धन-सघातन की २०, दोनो को मिलाने मे ३६ प्रकृतिया हुई । नाम कर्म की १०३ प्रकृतियों मेसे ३६ को घटा देनेसे ६७ प्रकृतिया रही ।

औदारीक आदि शरीर के सदृश ही औदारिक बन्धन तथा औदारिक आदि सघातन है । इसी लिये बन्धनों और सघा-

तनो का शरीर नाम में अन्तर्भाव कर दिया गया। वर्ण की ५ उत्तरप्रकृतियां है। इसी प्रकार गन्ध की २, रस की ५ और स्पर्श की ८ उत्तर-प्रकृतियां है। साजात्य को लेकर विशेष भेदों की विवक्षा नही की है, किन्तु सामान्य-रूप से एक-एक ही प्रकृति ली गई है।

बन्ध आदि की अपेक्षा कर्म-प्रकृतियों की जुदी २ संख्याएं:-

इय सत्तट्ठ बंधोदए य न य सम्ममीसया बंधे।
बंधुदए सत्ताए वीसदुवीसऽट्ठवन्नसयं ॥३२॥

(इय) इस प्रकार (सत्तट्ठी) सडसठ प्रकृतियां (बंधोदए) वन्ध, उदय और (य) च अर्थात् उदीरणा की अपेक्षा समझना चाहिये। (सम्मीसया) सन्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय (वन्ध) वन्धन मे (न य) न च–नही लिये जाते, (बंधुदए सत्ताए) वन्ध, उदय और सत्ता की अपेक्षा क्रमशः (विस-दुवी सट्ठवन्नसय) एकसौ बीस, एक सौ बाईस और एक सौ अट्ठावन कर्म प्रकृतिया ली जाती है ॥ ३२ ॥

भावार्थ—इस गाथा मेबन्ध, उदय, उदीरणा तथा सत्ता की अपेक्षा से कुल कर्म-प्रकृत्तियों की जुदी-जुदी संख्याएं कहो है।

१२० कर्म-प्रकृतियां वन्ध की अधिकारिणी है। सो इस प्रकार —नाम कर्म की ६७, ज्ञानावरणीय की ५ दर्शनावरणीय की ९, वेदनीय की २, मोहनीय की २६, आयु की ४, गोत्र की २ और अन्तराय की ५ सब को मिलाकर १२० कर्म प्रकृतियां हुई।

यद्यपि मोहनीयकर्म के २८ भेद है, परन्तु बन्धन २६ का ही होता है। सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय, इन दो प्रकृतियों का वन्ध नही होता। जिस मिथ्यात्व मोहनीय का वन्ध हौता है, उस के कुछ पुद्गलों को जीव अपने सम्यक्त्वगुण से अत्यन्त शुद्ध

कर देता है और कुछ पुद्गलों को अर्द्ध शुद्ध करता है। अत्यन्त-शुद्ध पुद्गल, सम्यक्त्वमोहनीय और अर्द्ध-शुद्ध पुद्गल मिथ्यात्व-मोहनीय कहलाते है। तात्पर्य यह है कि दर्शनमोहनीय की दो प्रकृतियों को–सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय को कम कर देनेसे शेष १२० प्रकृतियां वन्ध योग्य हुई।

अब इन्ही बन्ध योग्य प्रकृतियो मे मोहनीय की जो दो प्रकृतियां घटा दी गई थी, उनको मिला देनेसे १२२ कर्म प्रकृतिया उदय तथा उदीरणा की अधिकारिणी हुई, क्योकि अन्यान्यप्रकृतियों के समान ही सम्यक्त्वमोहनीय तथा मिश्रमोहनीय की उदय-उदीरणा हुआ करती है।

१५८ अथवा १४८प्रकृतियां सत्ता की अधिकारीणी है।सो इस प्रकार:–ज्ञानावरणीय की ५, दर्शनावरणीय की ९, वेदनीय की २, मोहनीय की २८, आयु की ४, नाम कर्म की १०३, गोत्र की २ और अन्तराय की ५ सब मिलकर १५८ हुई। इस सख्या मे बन्धन नाम के १५ भेद मिलाए गये है। यदि १५ के स्थान मे ५ भेद ही बन्धन के समझे जांय तो १५८ में से १० के घटा देने पर सत्तायोग्य प्रकृतियों की सख्या १४८ होगी।

१४ पिण्डप्रकृतियों में से गति, जाति तथा शरीर नाम के उत्तर भेद:—

निरयतिरिनरसुरगई इगबियतियचउपणिंदिजाइओ।
ओरालविउव्वाहारगतेयकम्मण पण सरीरा ॥२३॥

(निरयतिरिनरसुरगई) नरक गति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति ये चार गतिनाम कर्म के भेद है। (इगवियतिय-चउपणिदिजाइओ) एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और पञ्चेन्द्रिय ये जाति नाम के पांच भेद है। (ओरालविउव्वा-

हारगतेयकम्मणपणसरीरा) औदारिक, वैक्रिय आहारक, तैजस और कार्मण, ये पांच, शरीर नाम कर्म के भेद है ॥३३॥

भावार्थ--गति नाम कर्म के चार भेद.—

१–जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसी अवस्था प्राप्त हो कि जिससे यह नारक है ऐसा कहा जाय, वह नरक-गतिनाम कर्म ।

२–जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसी अवस्था प्राप्त हो कि जिससे यह तिर्यञ्च है ऐसा कहा जाय, वह तिर्यञ्चगतिनाम कर्म ।

३–जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसी अवस्था प्राप्त हो कि जिससे यह मनुष्य है ऐसा कहा जाय, वह मनुष्यगतिनाम कर्म ।

४–जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसी अवस्था प्राप्त हो कि जिसे देख यह देव है ऐसा कहा जाय, वह देवगतिनाम कर्म है ।

जातिनाम कर्म के पाच भेद —

१–जिस कर्म के उदय से जीव को सिर्फ एक इन्द्रिय–त्वगिन्द्रिय की प्राप्ति हो उसे एकेन्द्रिय जातिनाम कर्म कहते है ।

२–जिस कर्म के उदय से जीव को दो इन्द्रिया–त्वचा और जीभ–प्राप्त होत हो, वह द्वीन्द्रियनाम कर्म है ।

३–जिस कर्म के उदय से तीन इन्द्रियां–त्वचा, जीभ और नाक–प्राप्त हो वह त्रीन्द्रियजातिनाम कर्म है ।

४–जिस कर्म के उदय से चार इन्द्रिय.–त्वचा, जीभ नाक, और आख–प्राप्त हो वह चतुरिन्द्रिय जाति नाम कर्म है ।

५–जिस कर्म के उदय से पाच इन्द्रिय–त्वचा, जीभ नाक, आख और कान प्राप्त हो, वह पञ्चेन्द्रिय जाति नाम कर्म है ।

शरीर नाम कर्म के पांच भेदः—

१–उदार अर्थात् प्रधान अथवा स्थूल पुद्गलों से बना हुआ शरीर औदारिक कहलाता है, जिस कर्म से ऐसा शरीर मिले उसे औदारिक शरीर नाम कर्म कहते है ।

तीर्थङ्कर और गणधरों का शरीर, प्रधान पुद्गलों से बनता है, और सर्वसाधारण का शरीर, स्थूल असार पुद्गलों से बनता है। मनुष्य और तिर्यञ्च को औदारिक शरीर प्राप्त होता है।

२–जिस शरीर से विविध क्रियाएं होती है, उसे वैक्रिय शरीर कहते है, जिस कर्म के उदय से ऐसे शरीर की प्राप्ति हो, उसे वैक्रिय शरीर नाम कर्म कहते है।

विविध क्रियाये ये:—एक स्वरूप धारण करना, अनेक स्वरूप धारण करना, छोटा शरीर धारण करना, बडा शरीर धारण करना; आकाश मे चलने योग्य शरीर धारण करना, भूमि पर चलने योग्य शरीर धारण करना; दृश्य शरीर धारण करना, अदृश्यशरीर धारण करना, इत्यादि अनेक प्रकार की अवस्थाओं को वैक्रिय शरीरधारी जीव कर सकता है।

वैक्रिय शरीर दो प्रकार के है:—औपपातिक और लब्धि-प्रत्यय।

देव और नारकों का शरीर औपपातिक कहलाता है अर्थात उनको जन्म से ही वैक्रिय शरीर मिलता है। लब्धिप्रत्यय शरीर तिर्यञ्च और मनुष्यों को होता है अर्थात् मनुष्य और तिर्यञ्च तप आदि के द्वारा प्राप्त किए हुये शक्ति-विशेष से वैक्रिय शरीर धारण कर लेते है।

३–चतुर्दशपूर्वधारी मुनि अन्य (महाविदेद) क्षेत्र मे वर्तमान तीर्थङ्कर से अपना सदेह निवारण करने अथवा उनका ऐश्वर्य देखने के लिये जब उक्त क्षेत्र को जाना चाहते है तब लब्धिविशेष से एक हाथ प्रमाण अतिविशुद्धस्फटिक-सा निर्मल जो शरीर धारण करते है, उसे आहारक शरीर कहते हैं। जिस कर्म के उदय से ऐसे शरीर की प्राप्ति हो, वह आहारक शरीर नाम कर्म है।

४–तेज पुद्गलो से बना हुआ शरीर तैजस कहलाता है

इस शरीर की उष्णता से खाये हुये अन्न का पाचन होता है। और कोई-कोई तपस्वी जो क्रोध से तेजो लेश्या के द्वारा औरों को नुकसान पहुचाता है तथा प्रसन्न होकर शीतलेश्या के द्वारा फायदा पहुचाता है, सो इसी तेज. शरीर के प्रभाव से समझना चाहिये। अर्थात् आहार के पाक का हेतु तथा तेजोलेश्या और शीतलेश्या के निर्गमन का हेतु जो शरीर, वह तैजस शरीर है। जिस कर्म के उदय से ऐसे शरीर की प्राप्ति होती है, वह तैजस शरीर नाम कर्म है।

५–कर्मो का बना हुआ शरीर कार्मण कहलाता है। जीव के प्रदेशों के साथ लगे हुये ८ प्रकार के कर्म पुद्गलों को कार्मण शरीर कहते है। यह कार्मण शरीर, सब शरीरों का बीज है। इसी शरीर से जीव अपने मरण-देश को छोड़ कर उत्पत्ति स्थान को जाता है। जिस कर्म से कार्मण शरीर की प्राप्ति हो, वह कार्मण-शरीर नाम कर्म है।

समस्त संसारी जीवों को तैजस शरीर और कर्मण शरीर, ये दो शरीर अवश्य होते है।

उपाङ्ग नाम कर्म के तीन भेद:—

बाहूरु पिट्ठि सिर उर उयरंग उवंग अंगुलीपमुहा।
सेसा अंगोपांग पढमतणुतिगस्सुवंगाणि ॥ ३४ ॥

(बाहूरु) भुजा, जंघा, (पिट्ठि) पीठ, (सिर) सिर, (उर) छाती और (उयरंग) पेट, ये अङ्ग है। (अंगुलीपमुहा) उंगली आदि (उवग) उपाग है। (सेसा) शेष (अगोपांग) अगोपांग है। (पढमतणुतिगस्सुवगाणि) ये अग, उपांग, और अगोपाग प्रथम के तीन शरीर मे ही होते है ॥३४॥

भावार्थ—पिण्डप्रकृतियों मे चौथा उपाङ्गनाम कर्म है।

उपाङ्ग शद्ब से तीन वस्तुओं का—अङ्ग, उपाङ्ग और अङ्गोपाङ्ग का ग्रहण होता है। ये तीनों अङ्गादि, औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन तीन शरीर मे ही होते हैं। अन्त के तैजस और कार्मण इन दो शरीर में नहीं होते, क्योंकि इन दोनों का कोई सस्थान अर्थात् आकार नही होता; अगोपाग आदि के लिये किसी न किसी आकृति की आवश्यकता है, सो प्रथम के तीन शरीरों में ही पाई जाती है।

अङ्ग के आठ भेद है—दो भुजाये, दो जघाये, एक पीठ, एक सिर, एक छाती और एक पेट। अग के साथ जुड़े हुए छोटे अवयवों को उपांग कहते है; जैसे उंगली आदि। अंगुलियो की रेखाओं तथा पर्वों आदि को अगोपांग कहते है।

१. औदारिक शरीर के आकार मे परिणत पुद्गलो से अगोपांग अवयव, जिस कर्म के उदय से वनते है, उसे औदारिक-अगोपांग नाम कर्म कहते है। २. जिस कर्म के उदय से, वैक्रिय शरीर रूप परिणत पुद्गलो से अंगोपाग रूप अवयव वनते है, वह वैक्रिय अंगोपांग नाम कर्म है। ३. जिस कर्म के उदय से, आहारक शरीर रूप से परिणत पुद्गलों से अंगोपाग-रूप अवयव बनते है, वह आहारक अंगोपांग नाम कर्म है।

बन्धन नाम कर्म के पांच भेदः—

उरलाइपुग्गलाणं निबद्धवज्झंतयाण संबंधं।
जं कुणइ जउसमं तं * उरलाईबंधणं नेयं ॥३५॥

(जं) जो कर्म (जउसमं) जतु—लाख के समान (निवद्ध-वज्झंतयाण) पहले बधे हुए तथा वर्तमान में वंधने वाले (उरला-इपुग्गलाणं) औदारिक आदि शरीर के पुद्गलों का, आपस मे

* "वंधण मुरलाई तणुनामा" इत्यदि पाठान्तरम्।

(सवध) सम्वन्ध (कुणइ) कराता है—परस्पर मिलता है (तं) उस कर्म को (उरलाइबंधण) औदारिक आदि वन्धननाम कर्म (नेय) समझना चाहिये ।

भावार्थ—जिस प्रकार लाख, गोद आदि चिकने पदार्थो से दो चीजे आपस में जोड़ दी जाती है, उसी प्रकार वन्धननाम कर्म, शरीर नाम के वल से प्रथम ग्रहण किये हुये शरीर पुद्गलों के साथ, वर्तमान समय में जिनका ग्रहण हो रहा है ऐसे शरीर-पुद्गलो को वाध देता है—जोड़ देता है । यदि बन्धननाम कर्म न हो तो शरीरकार-परिणत पुद्गलों में उसी प्रकार की अस्थिरता होती, जैसी कि वायु-प्रेरित, कुण्ड स्थित सक्तु (सत्तु) मे होती है ।

जो शरीर नये पैदा होते है, उनके प्रारम्भ-काल मे सर्व वध होता है । वाद, वे शरीर जव तक धारण किये जाते है, देश-वध हुआ करता है, अर्थात्, जो शरीर नवीन नहीं उत्पन्न होते, उनमे, जव तक कि वे रहते है, देश-वन्ध ही हुआ करता है ।

औदारिक, वैक्रिय और आहारक, इन तीन शरीरो मे, उत्पत्ति के समय सर्व-वन्ध और वाद मे देश-वन्ध होता है । तैजस और कार्मण शरीर की नवीन उत्पत्ति नही होती, इसलिये उनमे देश-वन्ध होता है ।

१—जिस कर्म के उदय से, पूर्व गृहीत—प्रथम ग्रहण किये हुये औदारिक पुद्गलों के साथ, गृह्यमाण—वर्तमान समय मे जिनका ग्रहण किया जा रहा हो, ऐसे औदारिक पुद्गलो का आपस में मेल हो जावे, वह औदारिक शरीर वन्धननाम कर्म है ।

२—जिस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत वैक्रिय पुद्गलों के साथ गृह्यमाणवैक्रिय पुद्गलों का आपस में मेल हो, वह वैक्रिय शरीर वन्धन नाम कर्म है ।

३—जिस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत आहारक पुद्गलो के साथ गृह्यमाण आहारक पुद्गलों का आपस मे सम्वन्ध हो, वह आहारक शरीर वन्ध नाम कर्म है ।

४—जिस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत तैजस पुद्गलों के साथ गृह्यमाण तैजस पुद्गलों का परस्पर वन्ध हो, वह तैजस शरीर वन्धन नाम कर्म है ।

५—जिस कर्म के उदय से पूर्व गृहीत कार्मण पुद्गलो के साथ, गृह्यमाण कार्मण पुद्गलो का परस्पर सम्वन्ध हो, वह कार्मण शरीर बन्धन नाम कर्म है ।

संघातन नाम कर्म के पांच भेदः—

जं संघायइ उरलाइपुग्गले तणगणं व दंताली ।
तं संघायं बंधणमिव तणुनामेण पंचविहं ॥३६॥

(दताली) दताली (तणगण व) तृण-समूह के सदृश (ज) जो कर्म (उरलाइपुग्गले) औदारिक आदि शरीर के पुद्गलो को (सघायइ) इकट्ठा करता है (तं सघाय) वह सघातन नाम कर्म है । (बघणमित्र) बन्धन नाम कर्म की तरह (तगुनामेण) शरीर-नाम की अपेक्षा से वह (पचविह) पांच प्रकार का है ॥३६॥

भावार्थ—प्रथम ग्रहण किये हुये शरीर पुद्गलों के साथ गृह्यमाण शरीर पुद्गलों का परस्पर वन्ध तभी हो सकता है जव कि उन दोनों प्रकार के—गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलो का परस्पर सान्निध्य हो ' पुद्गलों को परस्पर सन्निहित करना—एक दूसरे के पास व्यवस्था से स्थापन करना सघातन कर्म का कार्य है । इसमे दृष्टान्त दन्ताली से इधर उधर बिखरी हुई घास इकट्ठी की जाती है, फिर उस घास का गट्ठा बांधा जाता है, उसी प्रकार सङ्घातन नाम कर्म पुद्गलों को सन्निहित करता है और बन्धन नाम, उनको

सवद्ध करता है।

शरीर नाम की अपेक्षा से जिस प्रकार वन्धन नाम के पाच भेद किये गये, उसी प्रकार सघातन नाम के भी पांच भेद है.—

१–जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर के रूप मे परिणत पुद्गलो का परस्पर सान्निध्य हो, वह औदारिक संघातन-नाम कर्म है।

२–जिस कर्म के उदय से वैक्रिय शरीर के रूप में परिणतपुद्गलो का परस्पर सान्निध्य हो, वह वैक्रिय संघातन नाम कर्म है।

३–जिस कर्म के उदय से आहारक शरीर के रूप मे परिणत पुद्गलों का परस्पर सान्निध्य हो, वह आहारक सघातन नाम कर्म है।

४–जिस कर्म के उदय से तैजस शरीर के रूप में परिणत-पुद्गलो का परस्पर सान्निध्य हो, वह तैजस सघातन नाम कर्म है।

५–जिस कर्म के उदय से कार्मण शरीर के रूप मे परिणतपुद्गलों का परस्पर सान्निध्य हो, वह कार्मण संघातन नाम-कर्म है।

वन्धन नामकर्म के पन्द्रह भेद—

ओरालविउव्वाहारयाण सगतेयकम्मजुत्ताणं।
नव बंधणाणि इयरदुसहियाणं तिन्नि तेसिं च ॥३७॥

(सगतेयकम्मजुत्ताणं) अपने अपने तैजस तथा कार्मण के साथ सयुक्त ऐसे (ओरालविउव्वाहारयाण) औदारिक, वैक्रिय और आहारक के (नव बधणाणि) नव वन्धन होते है। (इयर दुसहियाणं) इतर दो—तैजस और कार्मण इन के साथ अर्थात्

मिश्र के साथ औदारिक, वैक्रिय और आहारक का सयोग होने पर (तिन्नि) तीन वन्धन प्रकृतिया होती है। (च) और (तेसी) उन के अर्थात् तैजस और कार्मण के, स्व तथा इतर से सयोग होने पर, तीन बधन-प्रकृतिया होती है ॥ ३७ ॥

भावार्थ–इस गाथा मे बधन नाम कर्म के १५ भेद कहे है:–

औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन तीनों का स्वकीय पुद्गलों से अर्थात् औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर रूप से परिणत पुद्गलों से, तैजस पुद्गलों से तथा कार्मण पुद्गलो से सम्बन्ध कराने वाले बन्धन नाम कर्म के नव भेद हैं।

औदारिक, वैक्रिय और आहारक का हर एक का, तैजस और कार्मण के साथ युगपत् सम्बन्ध कराने वाले बन्धन नाम कर्म के तीन भेद है। तेजस और कार्मण का स्वकीय तथा इतर से सम्बन्ध कराने वाले बन्धन नाम कर्म के तीन भेद है। इस तरह बन्धन नाम कर्म के १५ भेद हुए। उनके नाम ये है:—

१ औदारिक औदारिक-बन्धन नाम, २ औदारिक-तैजस बन्धन नाम, ३ औदारिक-कार्मण-बन्धन नाम, ४ वैक्रिय-वैक्रिय बन्धन नाम, ५ वैक्रिय तैजस-बन्धन नाम, ६ वैक्रिय-कार्मण बन्धन नाम, ७ आहारक आहारक बन्धन नाम, ८ आहारक-तैजस-बन्धन नाम, ९ आहारक-कार्मण बन्धन नाम, १० औदारिक-तैजस-कार्मण-बन्धन नाम, ११ वैक्रिय-तैजस-कार्मण-बन्धन नाम, १२ आहारक-तैजस-कार्मण-बन्धन नाम, १३ तैजस-तैजस-बन्धन नाम, १४ तैजस-कार्मण बन्धन नाम, १५ कार्मण-कार्मण-बन्धन नाम।

इनका अर्थ यह है कि.—१ जिस कर्म के उदय से, पूर्वगृहीत औदारिक पुद्गलो के साथ गृह्यमाण औदारिक पुद्गलो का परस्पर सम्बन्ध होता है, वह औदारिक औदारिक बन्धननाम

कर्म है। २. जिस कर्म के उदय से औदारिक दल का तैजस दल के साथ सम्बन्ध हो, वह औदारिक तैजस बन्धन नाम है। ३ जिस कर्म के उदय से औदारिक दल का कार्मण दल के साथ सम्बन्ध होता है, वह औदारिक-कार्मण बन्धन नाम है। इसी प्रकार अन्य बन्धन नामों का भी अर्थ समझना चाहिये। औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीरों के पुद्गलों का परस्पर सम्बन्ध नही होता, क्योंकि वे परस्पर विरुद्ध है। इसलिए उनके सम्बन्ध कराने वाले नाम कर्म भी नही है।

सहनन नाम कर्म के छह भेद, दो गाथाओं से कहते है:—

संघयणमट्ठिनिचओ तं छद्धा वज्जरिसहनारायं।
तहय रिसहनारायं नारायं अद्धनारायं ॥३८॥
कीलिअ छेवट्ठ इह रिसहो पट्टो य कीलिया वज्जं।
उभओ मक्कडबधो नारायं इममुरालंगे ॥३९॥

(सघयणमट्ठिनिचओ) हाड़ों की रचना को संहनन कहते है, (त) वह (छद्धा) छह प्रकार का है:—(वज्जरिसहनाराय) वज्रऋषभनाराच, (तहय) उसी प्रकार (रिसहनारायं) ऋषभनाराच, (नाराय) नाराच, (अद्धनाराय) अर्द्ध नाराच ॥३८॥

(कीलिय) कीलिका और (छेवट्ठ) सेवार्त। (इह) इस शास्त्र में (रिसहो पट्टो) ऋपभ का अर्थ, पट्ट; (य) और (कीलिया वज्ज) वज्र का अर्थ, कीलिका—खोला है; (उभओ मक्कडवधो नाराय) नाराच का अर्थ, दोनों ओर मर्कट-वन्ध है। (इममुरालगे) यह सहनन औदारिक शरीर में ही होता है ॥३९॥

भावार्थ—पिण्ड प्रकृतियो का वर्णन चल रहा है। उनमे से सातवी प्रकृतिका नाम है, सहनन नाम। हाड़ों का आपस मे जुड़ जाना, अर्थात् रचना-विशेप जिस नाम कर्म के उदय से होता

है, उसे 'संहनन नाम कर्म' कहते है। उसके छह भेद है.—

१—वज्र का अर्थ है खीला, ऋषभ का अर्थ है वेष्टन-
और नाराच का अर्थ है दोनों तरफ मर्कट-बन्ध। मर्कट-बन्ध
बधी हुई दो हड्डियो के ऊपर, तीसरे, हड्डी का बेठन हो, और तीन
को भेदने वाला हड्डी का खीला जिस सहनन में पाया जाय, उ
वज्रऋषभनाराच संहनन कहते है, और जिस कर्म के उदय से
ऐसा सहनन प्राप्त हो उस कर्म का नाम भी वज्रऋषभनाराच
सहनन है।

२—दोनों तरफ हाड़ों का मर्कट-बन्ध हो, तीसरे, हाडका
वेठन भी हो, लेकिन तीनों को भेदने वाला हाड का खीला न हो,
तो ऋषभ-नाराच संहनन। जिस कर्म के उदय से ऐस. सहनन
प्राप्त होता है उसे ऋषभ-नाराच संहनन नाम कर्म कहते है।

३—जिस रचना में दोनों तरफ मर्कट-वन्ध हो, लेकिन वेठन
और खीला न हो, उसे नाराच सहनन कहते है। जिस कर्म से
ऐसा संहनन प्राप्त होता है, उसे नाराच संहनन नाम कर्म
कहते है।

४—जिस रचना में एक तरफ मर्कट-बन्ध हो और दूस
तरफ खीला हो, उसे अर्धनाराच संहनन कहते है। पूर्ववत् ऐ
कर्म का भी नाम अर्धनाराच संहनन है।

५—जिस रचना में मर्कट-बन्ध और बेठन न हो, किन्
खीले से हड्डिया जुड़ी हो, वह कीलिका संहनन है। पूर्ववत् ऐसे
कर्म का नाम भी वही है।

६—जिस रचना में मर्कट-बन्ध बेठन और खीला न होकर,
यों ही हड्डियां आपस में जुड़ी हों, वह सेवार्त सहनन है। जिस
कर्म के उदय से ऐसे सहनन की प्राप्ति होती है, उसका नाम भी
सेवार्त संहनन है। सेवार्त का दूसरा नाम छेदवृत्त भी है। पूर्वोक्त

छह संहनन, औदारिक शरीर में ही होते हैं, अन्य शरीरों में नही।
संस्थाननाम कर्म के छह भेद और वर्णनाम कर्म के पांच भेद.—

समचउरंसं निग्गोहसाइखुज्जाइ वामणं हुंडं।
संठाणा वन्ना किण्हनीललोहियहलिद्दसिया ॥४०॥

(समचउरंसं) समचतुरस्त्र, (निग्गोह) न्यग्रोध, (साइ) सादि, (खुजइ) कुब्ज, (वामण) वामन और (हुण्डं) हुण्ड, ये (सठाणा) संस्थान है। (किण्ह) कृष्ण, (नील) नील, (लोहिय) लोहित–लाल, (हलिद) हारिन्द्र—पीला, और (सिया) सित–श्वेत, ये (वन्ना) वर्ण है ॥४०॥

भावार्थ—शरीर के आकार को सस्थान कहते हैं। जिस कर्म के उदय से सस्थान की प्राप्ति होती है, उस कर्म को 'संस्थान-नाम कर्मं' कहते है। इसमे छह भेद हैं:—

१—समका अर्थ है समान, चतु:का अर्थ है चार और अस्त्र का अर्थ है कोण अर्थात् पालथी मारकर बैठने से जिस शरीर के चार कोण समान हों अर्थात् आसन और कपाल का अन्तर, दोनों जानुओंक अन्तर, दक्षिण स्कन्ध और बाम जानुका अन्तर तथा बाम स्कन्ध और दक्षिण जानुका अन्तर समान हो तो समचतुरस्त्रसंस्थान समझना चाहिये, अथवा सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार जिस शरीर के सम्पूर्ग अवयव शुभ हों, उसे समचतु-रस्र सस्थान कहते है। जिस कर्म के उदय से ऐसे संस्थान की प्राप्ति होती है, उसे समचतुरस्र संस्थान नाम कर्म कहते हैं।

२—वड़ के वृक्ष को न्यग्रोध कहते हैं। उसके समान, जिस शरीर में, नाभि से ऊपर के अवयव पूर्ण हों, किन्तु नाभि से नीचे के अवयव हीन हों, वह न्यग्रोधपरिमण्डल नाम

जिस कर्म के उदय से ऐसे संस्थान की प्राप्ति होती है, उस कर्म का नाम न्यग्रोध परिमण्डल सस्थान नाम कर्म है ।

३--जिस शरीर में नाभि से नीचे के अवयव पूर्ण और नाभि से ऊपर के अवयव हीन होते है, उसे सादि सस्थान कहते है । जिस कर्म के उदय से ऐसे सस्थान की प्राप्ति होती है, उसे सादि सस्थान नाम कर्म कहते है ।

४—जिस शरीर के हाथ, पैर, सिर, गर्दन आदि अवयव ठीक हो, किन्तु छाती, पीठ, पेट हीन हों, उसे कुब्जसस्थान कहते हैं । जिस कर्म के उदय से ऐसे सस्थान की प्राप्ति होती है, उसे कुब्ज सस्थान नाम कर्म कहते हैं । लोक में कुब्ज को 'कुबड़ा' कहते है ।

५—जिस शरीर मे हाथ, पैर आदि अवयव हीन—छोटे हो और छाती पेट आदि पूर्ण हो, उसे वामन सस्थान कहते है जिस कर्म के उदय से ऐसे संस्थान की प्राप्ति होती है, उसे वामन सस्थान नाम कर्म कहते है । लोक में वामन को 'बौना' कहते है ।

६—जिसके समस्त अवयव बेढव हों-प्रमाण शुन्य हो उसे हुण्ड सस्थान कहते हैं । जिस कर्म के उदय से ऐसे सस्थान की प्राप्ति होती है, उसे हुण्ड सस्थान नाम कर्म कहते है ।

शरीर के रग को वर्ण कहते है । जिस कर्म के उदय से शरीरो मे जुदे जुदे रग होते है, उसे वर्ण नाम कर्म कहते है। उसके पाच भेद है.—

१. जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर कोयले जैसा काला हो, वह कृष्ण वर्णनाम कर्म । २. जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर तोते के पख जैसा हरा हो, वह नील वर्णनाम । ३. जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर हिंगुल या सिंदूर

जैसा लाल हो, वह लोहित वर्णनाम कर्म। ४. जिस कर्ण के उदय से जीव का शरीर हल्दी जैसा पीला हो, वह हारिद्र वर्ण-नाम कर्म और ५ जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर शख जैसा सफेद हो वह सित वर्णनाम कर्म है।

गन्धनाम कर्म, रस नाम कर्म और स्पर्श नाम कर्म के भेद–

सुरहिदुरही रसा पण तित्तकडुकसायअंबिला महुरा।
फासा गुरुलहुमिउखरसीउण्ह सिणिद्धरुक्खऽट्ठा ॥४१॥

(सुरहि) सुरभि और (दुरही) दुरभि दो प्रकार का गन्ध है। (तित्त) तिक्त, (कडु) कटु, (कसाय) कषाय, (अबिला) आम्ल और (महुरा) मधुर, ये (रसा पण) पांच रस है। (गुरु लघु मिउ खर सी उण्ह सिणिद्ध रुक्खऽट्ठा) गुरु, लघु, मृदु. खर, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रुक्ष, ये आठ (फांसा) स्पर्श है।

भावार्थ—गन्धनाम कर्म के दो भेद है–सुरभिगन्ध नाम और दुरभिगण्ध नाम। १ जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर की कपूर कस्तूरी आदि पदार्थों जैसी सुगन्धि होती है, उसे 'सुरभिगन्ध नाम कर्म' कहते है। तीर्थंकर आदि के चरीर सुग-न्धित होते है। २. जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर की लहसुन या सड़े पदार्थों जैसी गन्ध हो, उसे 'दुरभिगन्धनाम कर्म' कहते है।

रसनाम कर्म के पाच भेद है–तिक्तनाम, कटुनाम, कषाय नाम, आम्लनाम और मधुरनाम। १. जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस, नीम या चिरायते जैसा कडुवा हो, वह 'तिक्तरस नास कर्म।' २. जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस सोंठ या काली मिर्च जैसा चरपरा हो, वह 'कटुरस नाम

कर्म।' ३. जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस, आंवला या बहेड़े जैसा कसैला हो, वह 'कषायरस नाम कर्म।' ४. जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस, नीबू या इमली जैसा खट्टा हो वह 'आम्लरस नाम कर्म।' ५ जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस ईख जैसा मीठा हो, वह 'मधुररस नाम कर्म।'

स्पर्शनाम कर्म के आठ भेद है:-गुरु नाम, लघु नाम, मृदु नाम, खर नाम, शीत नाम, उष्ण नाम, स्निग्ध नाम और रूक्ष नाम। १. जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर लोहे जैसा भारी हो वह 'गुरुनाम कर्म।' २. जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर आककी रुई (अर्क तूल) जैसा हलका हो वह 'लघुनाम कर्म।' ३ जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर मक्खन जैसा कोमल-मुलायम हो, वह 'मृदुस्पर्शनाम कर्म'। ४. जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर गाय की जीभ जैसा कर्कश-खरदरा हो, वह कर्कश नाम कर्म।' ५. जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर कमल-दण्ड या बर्फ जैसा ठडा हो, वह 'शीतस्पर्शनाम कर्म'। ६. जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर अग्नि के समान उष्ण हो वह 'उष्णस्पर्शनाम कर्म।, ७. जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर घी के समान चिकना हो वह 'स्निग्धस्पर्शनाम कर्म'। ८. और जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर, राख के समान रुक्ष-रुखा हो, वह 'रुक्षस्पर्शनाम कर्म' है।

वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श की बीस प्रकृतियों मे कौन प्रकृतिया शुभ और कौन अशुभ हैं, सो कहते है:-

नीलकसिणं दुगंधं तित्तं कडुयं गुरुं खरं रुक्खं।
सीयं च असुहनवगं इक्कारसगं सुभं सेसं ॥४२॥

(नील) नीलनाम, (कसिण) कृष्णनाम, (दुगध) दुर्गन्ध

नाम, (तित्त) तित्तनाम, (कडुयं) कटुनाम, (गुरु) गुरुनाम, (खर) खरनाम, (रुक्खं) रुक्षनाम, (च) और (सीयं) शीतनाम, यह (असुहनवगं) अशुभ-नवक है अर्थात् नव प्रकृतियां अशुभ हैं और (सेस) शेष (इक्कारसगं) ग्यारह प्रकृतियां (सुभं) शुभ ॥ ४२ ॥

भावार्थ-वर्णनाम, गन्ध नाम, रस नाम और स्पर्श नाम [illegible]न चारो की उत्तर-प्रकृतियां २० है। २० प्रकृतियों में ९ प्रकृतियां [illegible]शुभ और ११ शुभ है।

(१) वर्णनाम कर्म की दो उत्तर प्रकृतियां अशुभ है-१ [illegible]ील वर्णनाम और २ कृष्ण वर्णनाम। तीन प्रकृतियां शुभ हैं:-- १ सितवर्णनाम, २ पीतवर्णननाम और ३ लोहित वर्णनाम।

(२) गन्ध नामकी एक प्रगति अशुभ है:-१ दुरभिगन्ध नाम। एक प्रकृति शुभ है:-१ सुरभिगन्धनाम।

(३) रसनामकर्म की दो उत्तर प्रकृतियां अशुभ है:-१ तित्तरसनाम और २ कटुरसनाम। तीन प्रकृतियां शुभ हैं:-१ कषायरसनाम, २ आम्लरसनाम और ३ मधुर रसनाम।

(४) स्पर्शनाम कर्म की चार उत्तर-प्रकृतियां अशुभ हैं:-१ गुरुस्पर्शनाम, २ खरस्पर्शनाम, ३ रुक्षस्पर्शनाम और ४ शीतस्पर्श नाम। चार उत्तर प्रकृतियां शुभ हैं:—लघुस्पर्शनाम, २ [illegible] स्पर्शनाम ३ स्निग्धस्पर्शनाम और ४ उष्णस्पर्शनाम।

आनुपूर्वी नाम कर्म के चार भेद, नरक [illegible] तथा विहायोगति नामकर्मः—

चउह गइव्वणुपुव्वी गईपुव्विदुगं तिगं [illegible]।
पुव्वीउदओ वक्के सुहअसुह [illegible] ॥ [illegible] ॥

(चउह गइव्वणुपुव्वी) [illegible]

आनुपूर्वी नामकर्म भी चार प्रकार का है, (गइपुव्विदुग) गति
ओर आनुपूर्वी ये दो, गति-द्विक कहलाते है (नियाउजुअ)
अपनी अपनी आयु से युक्त द्विक का (तिग) त्रिक अर्थात् गति
त्रिक कहते है (वक्के) वक्र गति मे-विग्रह गति मे (पुव्वी
उदओ) आनुपूर्वी नामकर्म का उदय होता है। (विहगगइ
विहायोगति नामकर्म दो प्रकार का है-(सुह असुह) शुभ औ
अशुभ इसमें दृष्टान्त है (वसुट्ट) बृष-बैल और उष्ट्र-ऊट ॥४३

भावार्थ—जिस प्रकार गतिनामकर्म के चार भेद है, उस
प्रकार आनुपूर्वी नाम कर्म के भी चार भेद है.-(१) देवानुपू
(२) मनुष्यानुपूर्वी (३) तिर्यंचानुपूर्वी ओर (४) नरकानुपूर्वी।

जीव की स्वाभाविक गति, श्रेणी के अनुसार होती है
आकाश-प्रदेशों की पक्ति को श्रेणी कहते है। एक शरीर
छोड दूसरा शरीर धारण करने के लिये जब जीव, समश्रेणी
अपने उत्पत्ति स्थान के प्रति जाने लगता है तब आनुपूर्वी ना
कर्म, उसे उसके विश्रेणी पतित उत्पत्ति स्थान पर पहुचा दे
है। जीव का उत्पत्ति स्थान यदि समश्रेणी मे हो, तो आनुपू
नाम कर्म का उदय नही होता। अर्थात् वक्र गति मे आनुपू
नाम कर्म का उदय होता है, ऋजुगति मे नही।

कुछ ऐसे सकेत, जिनका कि आगे उपयोग है-

जहा 'गति-द्विक' ऐसा सकेत हो, वहा गति और आ
पूर्वी ये दो प्रकृतिया लेनी चाहिये। जहा 'गति-त्रिक' आ
वहा गति, आनुपूर्वी और आयु ये तीन प्रकृतिया ली जाती है
ये सामान्य सज्ञाए कही गई, विशेष सज्ञाओ को इस प्रक
समझना -

नरक-द्विक—१ नरक गति और २ नरकानुपूर्वी।

नरक-त्रिक—१ नरक गति, २ नरकानुपूर्वी और

नरकायु ।

तिर्यञ्च-द्विक—१ तिर्यंचगति और २ तिर्यंचानुपूर्वी ।

तिर्यञ्च-त्रिक—१ तिर्यंचगति, २ तिर्यंचानुपूर्वी और ३ तिर्यंचायु ।

इसी प्रकार सुर (देव)-द्विक, सुर-त्रिक; मनुष्य-द्विक, मनुष्यत्रिकको भी समझना चाहिये ।

पिण्ड-प्रकृतियों मे १४ वीं प्रकृति, विहायोगतिनाम है, उसकी दो उत्तर प्रकृतिया है –१ शुभ विहायोगतिनाम और २ अशुभ-विहायोगतिनाम ।

१—जिस कर्म के उदय से जीव की चाल शुभ हो, वह 'शुभ विहायोगति' जैसे कि हाथी, बैल, हंस आदि की चाल शुभ है ।

२—जिस कर्म के उदय से जीव की चाल अशुभ हो, वह 'अशुभ विहायोगति' जैसे कि ऊट, गधा, टीढ़ी इत्यादि की चाल अशुभ है ।

पिण्ड प्रकृतियों के ६५, या १५ बन्धनों की अपेक्षा ७५ भेद कह चुके है । अब प्रत्येक-प्रकृतियों में से पराघात और उच्छ्वास नाम कर्म कहते है:—

परघाउदया पाणी परेसि बलिणं पि होइ दुद्धरिसो ।
ऊससणलद्धिजुत्तो हवेइ ऊसासनामवसा ॥ ४४ ॥

(परघाउदया) पराघात नाम कर्म के उदय से (पाणी) प्राणी (परेसि वलिणंपि) अन्य बलवानों को भी (दुद्धरिसो) दुर्धर्ष–अजेय (होई) होता है । (ऊसासनामवसा) उच्छ्वास नाम कर्म के उदय से (ऊससणलद्धिजुत्तो) उच्छ्वास-लब्धि से युक्त (हवेइ) होता है ।

भावार्थ--इस गाथा से लेकर ५१ वी गाथा तक प्रत्येक प्रकृत्तियों के स्वरूप का वर्णन करेगे। इस गाथा मे पराघात और उच्छ्वास नाम कर्म का स्वरूप इस प्रकार कहा है:-

१—जिस कर्म के उदय से जीव, कमजोरों का तो कहना ही क्या है, वडे बड़े बलवानों की दृष्टि मे भी अजेय समझा जावे उसे 'पराघातनाम कर्म' कहते है। अर्थात् जिस जीव को इस कर्म का उदय रहता है, वह इतना प्रबल मालुम देता है कि वडे बड़े वली भी उसका लोहा मानते है, राजाओं की सभा मे उसके दर्शन मात्र से अथवा वाक्कौशल से बलवान विरोधियों के छक्के छूट जाते है।

२—जिस कर्म के उदय से जीव, श्वासोच्छवास लब्धि से युक्त होता है, उसे 'उच्छ्वास मना कर्म' कहते है। शरीर से वाहर की हवा को नासिका-द्वारा अन्दर खीचना 'श्वास' है, और शरीर के अन्दर की हवा को नासिको-द्वारा बाहर छोड़ना 'उच्छवास'। इन दोनों कामों को करने की शक्ति उच्छ्वास नाम कर्म-से होती है।

आतप नाम कर्म:—

रविबिंबे उ जियंगं तावजुयं आयवाउ न उ जलणे।
जमुसिणफासस्स तहिं लेहियवन्नस्स उदउ त्ति ॥४५॥

(आयवाउ) आतप नाम कर्म के उदय से (जियंग) जीवो का अंग (तावजुअं) ताप-युक्त होता है, और इस कर्म का उदय (रवि विबेउ) सूर्य-मण्डल के पार्थिव शरीरों में ही होता है। (न उ जलणे) किन्तु अग्नि काय जीवों के शरीर में नही होता, (जमुसिणफासस्स तहि) क्योंकि अग्निकाय के शरीर में उष्ण ाम का और (लोहियवन्नस्स) लोहितवर्ण नाम का

कर्म के उदय से समझना चाहिये। इसी प्रकार देव जब अपने मूल शरीर की अपेक्षा उत्तर-वैक्रिय शरीर धारण करते है, तब उस शरीर से शीतल प्रकाश निकलता है, सो उद्योतनाम कर्म के उदय से। चन्द्र मण्डल, नक्षत्र मण्डल और तारा मण्डल के पृथ्वीकाय जीवों के शरीर से शीतल प्रकाश निकलता है, वह उद्योत नाम कर्म के उदय से। इसी प्रकार जुगनू, रत्न तथा प्रकाश वाली औषधियों को भी उद्योत नाम कर्म का उदय समझना चाहिये।

अगुरुलघु नाम कर्म का और तीर्थ कर नाम कर्म का स्वरूप —

अंगं न गुरु न लहुयं जायइ जीवस्स अगुरुलहुउदया।
तित्थेण तिहुयणस्स विपुज्जो से उदओ केवलिणो ॥४७॥

(अगुरुलहुउदया) अगुरुलघु नाम कर्म के उदय से (जीवस्स) जीव का (अंग) शरीर (न गुरु न लहुयं) न तो भारी और न हल्का (जायइ) होता है। (तित्थेण) तीर्थकर नाम कर्म के उदय से (तिहुयणस्स विपुज्जो) त्रिभुवन का भी पूज्य होता है, (से उदओ) उस तीर्थकर नाम कर्म का उदय, (केवलिणो) जिसे कि केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है, उसी को होता है ॥४७॥

भावार्थ—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर न भारी होता है और न हल्का, उसे अगुरुलघुनाम कर्म कहते है। अर्थात् जीवो का शरीर इतना भारी नही होता कि उसे सम्भालना कठिन हो जाय अथवा इतना हलका भी नही होता कि हवा मे उडने से नही बचाया जासके, किन्तु अगुरुलघु-परिमाण वाला होता है सो अगुरुलघुनाम कर्म के उदय से समझना चाहिये।

जिस कर्म के उदय से तीर्थकर पद की प्राप्ति होती है

उसे 'तीर्थंकर नाम कर्म' कहते है। इस कर्म का उदय उसी जीव को होता है, जिसे केवल ज्ञान (अनन्तज्ञान, पूर्ण ज्ञान) उत्पन्न हुआ है। इस कर्म के प्रभाव से वह अपरिमित ऐश्वर्य को भोगता है। ससार के प्राणियों को वह अपने अविकार-युक्त वाणी से उस मार्ग को दिखलाता है, जिस पर खुद चल कर उसने कृतकृत्य दशा प्राप्त की है। इसलिये ससार के वड़े से वड़े शक्तिशाली देवेन्द्र और नरेन्द्र तक उसकी अत्यन्त श्रद्धा से सेवा करते है।

निर्माण नाम कर्म और उपघात नाम कर्म का स्वरूपः—

अङ्गोवंगनियमणं निम्माणं कुणइ सुत्तहारसमं ।
उवघाया उवहम्मइ सतणुवयवलंबिगाईहिं ॥४८॥

(निम्माण) निर्माण नाम कर्म (अगोवगनियमण) अङ्गो और उपाङ्गों का नियमन अर्थात् यथायोग्य प्रदेशों मे व्यवस्थापन (कुणइ) करता है, इसलिये यह (सुत्तहारसम) सूत्रधार के सदृश है। (उवघाया) उपघात नाम कर्म के उदय से (सतणुवयवलबिगाईहि) अपने शरीर के अवयव-भूत लम्बिका आदि से जीव (उवहम्मइ) उपहत होता है ॥४८॥

भावार्थ—जिस कर्म के उदय से, अङ्ग और उपाङ्ग, शरीर मे अपनी अपनी जगह व्यवस्थित होते है, वह 'निम्मीण नाम कर्म'। इसे सूत्रधार की उपमा दी है। अर्थात जैसे कारीगर हाथ पैर आदि अवयवो को मूर्ति में यथोचित स्थान पर बना देता है, उसी प्रकार निर्माण नाम कर्म का काम अवयवो को उचित स्थान मे व्यवस्थापित करना है। इस कर्म के अभाव मे अङ्गोपाङ्ग नाम कर्म के उदय से बने हुए अङ्ग-उपाङ्गों के स्थान का नियम नहीं होता। अर्थात् हाथों की जगह हाथ, पैरों की जगह पैर, [illegible] प्रकार स्थान का नियम नहीं रहता।

जिस कर्म के उदय से जीव अपने ही अवयवो से–प्रति जिह्वा (पडजीभ), चौरदन्त [ओष्ठ से वाहर निकले हुए दात], रसौली, छठी उगली आदि से क्लेश पाता है, वह 'उपघात-नाम कर्म' है ।

त्रस-दशक में त्रसनाम, बादर नाम और पर्याप्ति नाम कर्म का स्वरूप.—

बितिचउपणिंदिय तसा बायरओ वायरा जिया थूला ।
नियनियपज्जत्तिजुया पज्जत्ता लद्धिकरणेहिं ॥४९॥

[तसा] त्रसनाम कर्म के उदय से जीव [बितिचउपणि-दिय] द्वीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय होते है । [बायर ओ] बादर नाम कर्म के उदय से [जिया] जीव [वायरा] बादर अर्थात् [थूला] स्थूल होते है । [पज्जत्ता] पर्याप्तिनाम कर्म के उदय से, जीव [नियनियपज्जत्तिजुया] अपनी अपनी पर्याप्तियो से युक्त होते है और वे पर्याप्त जीव [लद्धिकरणेहि] लब्धि और करण को लेकर दो प्रकार के है ॥४९॥

भावार्थ—जो जीव सर्दी-गर्मी से अपना बचाव करने के लिए एक स्थान को छोड दूसरे स्थान में जाते हैं, वे 'त्रस' कह-लाते है; ऐसे जीव द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय है ।

जिस कर्म के उदय से जीव को त्रसकाय की प्राप्ति हो, वह त्रसनाम कर्म है । और जिस कर्म के उदय से जीव बादर अर्थात् स्थूल होते है, वह बादर नाम कर्म है ।

आख जिसे देख सके वह बादर, ऐसा बादर का अर्थ नही है; क्योकि एक एक बादर पृथ्वीकाय आदि का शरीर आख से नही देखा जा सकता । बादर नाम कर्म, जीव-विपाकिनी प्रकृति

है वह जीव में बादर-परिणाम को उत्पन्न करती है। यह प्रकृति जीवविपाकिनी होकर भी शरीर के पुद्गलों में कुछ अभिव्यक्ति प्रकट करती है, जिससे बादर पृथ्वीकाय आदि का समुदाय, दृष्टि-गोचर होता है। जिन्हें इस कर्म का उदय नही है, ऐसे सूक्ष्म जीवों के समुदाय दृष्टिगोचर नही होते। यहा यह शङ्का होती है कि वादर नाम कर्म, जीवविपा की प्रकृति होने के कारण, शरीर के पुद्गलों में अभिव्यक्ति–रूप अपने प्रभाव को कैसे प्रकट कर सकेगा ? इसका समाधान यह है कि जीवविपाकी प्रकृति का शरीर मे प्रभाव दिखलाना विरुद्ध नही है। क्योंकि क्रोध, जीवविपाकी प्रगति है। तथापि उससे भौहों का टेढ़ा होना, आखों का लाल होना, होठों का फड़कना इत्यादि परिणाम स्पष्ट देखा जाता है। सारांश यह है कि कर्म-शक्ति विचित्र है, इसलिये वादर नामकर्म, पृथ्धीकाय आदि जीव में एक प्रकार के वादर परिणाम को उत्पन्न करता है और वादर पृथ्वीकाय आदि जीवों के शरीर समुदाय मे एक प्रकार की अभिव्यक्ति प्रकट करता है जिससे कि वे शरीर दृष्टि-गोचर होते है।

जिस कर्म के उदय से जीव अपनी अपनी पर्याप्तियों से युक्त होते है, वह पर्याप्त नाम कर्म है। जीव की उस शक्ति को पर्याप्ति कहते हैं, जिसके द्वारा पुद्गलों को ग्रहण करने तथा तथा उनका आहार, शरीर आदि के रूप मे वदल देने का काम होता है। अर्थात् पुद्गलों के उपचय से जीव की पुद्गलों को ग्रहण करने तथा परिणमाने की शक्ति को पर्याप्ति कहते है। विपय-भेद से पर्याप्ति के छह भेद है—आहार-पर्याप्ति, शरीर-पर्याप्ति, इन्द्रिय-पर्याप्ति, उच्छ्वास-पर्याप्ति, भाषा-पर्याप्ति और मनः पर्याप्ति।

मृत्यु के वाद जीव, उत्पत्ति-स्थान में पहुंच कर कार्मग-

शरीर के द्वारा जिन पुद्गलों को प्रथम समय में ग्रहण करता है उनके छह विभाग होते है और उनके द्वारा एक साथ छहो पर्याप्तियों का बनना शुरू हो जाता है। अर्थात् प्रथस समय मे ग्रहण किये हुये पुद्गलो के छह भागों मे से एक एक भाग लेकर हर एक पर्याप्ति का वनना शुरू हो जाता है, परन्तु उनकी पूर्णता क्रमशः होती है। जो औदारिक-जीव-धारी जीव हैं, उनकी आहार-पर्याप्ति एक समय में पूर्ण होती है, और अन्य पाच पर्याप्तिया अन्तर्मुहूर्त्त मे क्रमश. पूर्ण होती है। वैक्रिय शरीर-धारी जीवों की शरीर-पर्याप्ति के पूर्ण होने मे अन्तर्मुहूर्त्त समय लगता है और अन्य पाच पर्याप्तियो के पूर्ण होने मे एक एक समय लगता है।

१–जिस शक्ति के द्वारा जीव वाह्य आहार को ग्रहण कर उसे खल और रस के रूप बदल देता है, वह 'आहार पर्याप्ति' है।

२–जिस शक्ति के द्वारा जीव, रस रूप मे बदल दिये गये आहार को सात धातुओं के रूप मे बदल देता है, वह 'शरीर पर्याप्ति' है।

सात धातु–रस, खून, मास, चर्वी, हड्डी, मज्जा (हड्डी के अन्दर का पदार्थ) और वीर्य। यहा यह सन्देह होता है कि आहार-पर्याप्ति मे आहार का रस बन चुका है, फिर शरीर-पर्याप्ति के द्वारा भी रस बनाने की शुरुआत कैसे कही गई? इसका समाधान यह है कि आहार-पर्याप्ति के द्वारा आहार का जो रस बनता है, उसकी अपेक्षा शरीर-पर्याप्ति के द्वारा बना हुआ रस भिन्न प्रकार का होता है। और यही रस, शरीर के बनने में उपयोगी है।

३–जिस शक्ति के द्वारा जीव, धातुओं के रूप मे बदले हुए आहार को इन्द्रियो के रूप मे बदल देता है, वह 'इन्द्रिय-

पर्याप्ति' है।

४–जिस शक्ति के द्वारा जीव श्वासोच्छ्वास योग्य पुद्गलों को–श्वासोच्छ्वास योग्य दलिकों को ग्रहण कर, उनको श्वासोच्छ्वास के रूप में बदल कर तथा अवलम्बन कर छोड़ देता है, वह 'उच्छ्वास-पर्याप्ति' है।

जो पुद्गल आहार शरीर-इन्द्रियों के बनने में उपयोगी हैं, उनकी अपेक्षा, श्वासोच्छ्वास के पुद्गल भिन्न प्रकार के हैं। उच्छ्वास पर्याप्ति का जो स्वरूप कहा गया है, उसमें 'पुद्गलों का ग्रहण करना, परिणमाना तथा अवलम्बन कर के छोडना,' ऐसा कहा गया है। अवलम्बन कर छोडना–इसका तात्पर्य यह है कि छोडने मे भी शक्ति की जरूरत होती है, इसलिये पुद्गलों के अवलम्वन करने से एक प्रकार की शक्ति पैदा होती है, जिससे पुद्गलो को छोडने मे सहारा मिलता है। इसमे यह दृष्टान्त दिया जा सकता है कि जैसे, गेंद को फेंकने के समय, जिस तरह हम उसे अवलम्बित करते है, अथवा विल्ला ऊपर कूदने के समय, अपने शरीर के अवयवों को सकुचित कर, जैसे उसका सहारा लेती है, उसी प्रकार जीव, श्वासोच्छ्वास के पुद्गलो को छोडने के समय उसका सहारा लेता है। इसी प्रकार भाषापर्याप्ति और मनःपर्याप्ति मे भी समझना चाहिये।

५–जिस शक्ति के द्वारा जीव, भाषा-योग्य पुद्गलो को लेकर उनको भाषा रूप मे बदल कर तथा अवलम्बन कर छोड़ता है, 'भाषा-पर्याप्ति' है।

६–जिस शक्ति के द्वारा जीव, मनो योग्य पुद्गलों को लेकर उनको मन के रूप में बदल देता है तथा अवलम्बन कर छोड़ता है, वह 'मन पर्याप्ति' है।

इन छह पर्याप्तियो मे से प्रथम की चार पर्याप्तिया

एकेन्द्रिय जीव को, पाच पर्याप्तिया विकलेन्द्रिय तथा असज्ञि पचेन्द्रिय को और छह पर्याप्तियां सज्ञिपचेन्द्रिय को होती हैं।

पर्याप्त जीवों के दो भेद हैं:—लब्धि-पर्याप्त और करण पर्याप्त। १ जो जीव अपनी अपनी पर्याप्तियो को पूर्ण करके मरते है, पहले नही, वे 'लब्धि-पर्याप्त।' २ करण का अर्थ है इन्द्रिय, जिन जीवो ने इन्द्रिय-पर्याप्ति पूर्ण कर ली है। अर्थात् आहार, शरीर और इन्द्रिय, ये तीन पर्याप्तिया पूर्ण कर ली है, वे 'करण-पर्याप्त' है, क्योंकि बिना आहार-पर्याप्ति और शरीर-पर्याप्ति पूर्ण किये, इन्द्रिय-पर्याप्ति, पूर्ण नही हो सकती; इसलिये तीनो पर्याप्तियां ली गई। अथवा अपनी योग्य पर्याप्तिया, जिन जीवों ने पूर्ण की है वे जीव, करण पर्याप्त कहलाते है। इस तरह करण-पर्याप्त के दो अर्थ है।

प्रत्येक, स्थिर, शुभ और सुभग नाम कर्म के स्वरूप:—

पत्तेय तणू पत्तेउदयेणं दंतअट्ठिमाई थिरं।
नाभुवरि सिराइ सुहं सुभगाओ सव्वजणइट्ठो ॥५०॥

(पत्तेउदयेण) प्रत्येक नाम कर्म के उदय से जीवो को (पत्तेयतणू) पृथक पृथक शरीर होते है। जिस कर्म के उदय से (दन्तअट्ठिमाइ) दांत, हड्डी आदि स्थिर होते है, उसे (थिर) स्थिर नाम कर्म कहते है। जिस कर्म के उदय से (नाभुवरि सिराइ) नाभि के ऊपर के अवयव शुभ होते है, उसे (सुह) शुभ नाम कर्म कहते है। (सुभगाओ) सुभगनाम कर्म के उदय से, जीव (सव्व-जणइट्ठो) सब लोगों को प्रिय लगता है ॥५०॥

भावार्थ–जिस कर्म के उदय से एक शरीर का एक ही जीव स्वामी हो, उसे प्रत्येक नाम कर्म कहते है। जिस कर्म के उदय से दांत, हड्डी, ग्रीवा आदि शरीर के अवयव स्थिर अर्थात् निश्चल

होते है, उसे स्थिर नाम कर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से नाभि के ऊपर के अवयव शुभ होते है, वह शुभ नाम कर्म। हाथ, सिर आदि शरीर के अवयवों से स्पर्श होने पर किसी को अप्रीति नही होती जैसे कि पैर के स्पर्श से होती है, यही नाभि के ऊपर के अवयवों में शुभत्व है। जिस कर्म के उदय से, किसी प्रकार का उपकार किये बिना या किसी तरह के सम्बन्ध के विना भी जीव सबका प्रीति-पात्र होता है, उसे सुभग नाम कर्म कहते है।

मुस्वर नाम, आदेय नाम, यशः कीर्ति नाम और स्थावर-दशक–

सुसरा महुरसुहझुणी आवज्जा सव्वलोयगिज्झवओ।
जसओ जसकित्तीओ थावरदसगं विवज्जत्थं ॥५१॥

(सुसरा) सुस्वर नाम के उदय से (महुरसुहझुणी) मधुर और सुखद ध्वनि होती है। (आइज्जा) आदेय नाम के उदय से (सव्वलोयगिज्झवओ) सब लोग वचन का आदर करते है। (जसओ) यशः कीर्ति नाम के उदय से (जसकित्ती) यशः कीर्ति होती है। (थावर-दसगं) स्थावर-दशक, (इओ) इससे–त्रस दशक से (विवज्जत्थं) विपरित अर्थ वाला है ॥५१॥

भावार्थ–जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर (आवाज) मधुर और प्रीतिकर हो, वह 'सुस्वर नाम कर्म' है। इसमें दृष्टान्त कोयल-मोर-आदि जीवों का स्वर है। जिस कर्म के उदय से जीव का वचन सर्व-मान्य हो, वह 'आदेय नाम कर्म' है। जिस कर्म के उदय से संसार में यश और कीर्ति फैले, वह 'यश.कीर्ति नाम कर्म' है। किसी एक दिशा में नाम (प्रशंसा) हो, तो 'कीर्ति' और सब दिशाओं में नाम हो, तो 'यश' कहलाता हैं। अथवा–दान, तप आदि से जो नाम होता हैं, वह

कीर्ति और शत्रु पर विजय प्राप्त करने से जो नाम होता है, वह यश कहलाता है।

त्रस-दशक का—त्रस नाम आदि दस कर्मों का—जो स्वरुप कहा गया है, उससे विपरीत, स्थावर-दशक का स्वरुप है। यथा:—

१. जिस कर्म के उदय से जीव स्थिर रहे—सर्दी-गर्मी से बचने की कोशिश न कर सके, वह स्थावर नाम कर्म है। पृथिवीकाय, जलकाय, तेजःकाय, वायु काय, और वनस्पतिकाय, ये स्थावर जीव है यद्यपि तेजःकाय और वायुकाय के जीवों में स्वाभाविक गति है तथापि द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवो की तरह सर्दी-गर्मी से बचने की विशिष्ट गति उनमें नही है।

२. जिस कर्म के उदय से जीव को सूक्ष्म शरीर—जो किसी को रोक न सके ओर न खुद ही किसी से रुके-प्राप्त हो, वह सूक्ष्म नाम कर्म हैं। इस नाम कर्म वाले जीव भी पांच स्थावर ही हीते हैं। वे सब लोकाकाश में व्याप्त है। आख से नही देखे जा सकते।

३. जिस कर्म के उदय से जीव, स्वयोग्य-पर्याप्ति पूर्ण न करे, वह अपर्याप्त नाम कर्म। अपर्याप्त जीवों के दो भेद है—लब्ध्य पर्याप्त और करणापर्याप्त। जो जीव अपनी पर्याप्त पूर्ण किये बिना ही मरते हैं, वे लब्ध्य पर्याप्त। आहार, शरीर तथा इन्द्रिय इन तीन पर्याप्तियों को जिन्होंने अब तक पूर्ण नही किया किन्तु आगे पूर्ण करने वाले हो, वे करणा पर्याप्त। लब्ध्य पर्याप्त जीव भी आहार-शरीर-इन्द्रिय इन तीन पर्याप्तियों को पूर्ण करके ही मरते हैं, पहले नहीं। क्योंकि आगामी भव की आयु बाँध कर ही सब प्राणी मरा करते है और आयु का बन्ध उन्ही जीवों को होता है, जिन्होने आहार, शरीर और इन्द्रिय, ये तीन

पर्याप्तियाँ पूर्ण कर ली है। आगम इस प्रकार कहता है।

४. जिस कर्म के उदय से अनन्त जीवों का एक ही शरीर हो, अर्थात अनन्त जीव एक शरीर के स्वामी बने, वह साधारण नाम कर्म है।

५. जिस कर्म के उदय से कान, भौह, जीव आदि अवयव अस्थिर अर्थात् चपल होते है, वह अस्थिरनाम कर्म है।

६ जिस कर्म के उदय से नाभि के नीचे के अवयव–पैर आदि अशुभ होते है, वह अशुभ नाम कर्म है। पैर से स्पर्श होने पर अप्रसन्नता होती है, यही अशुभत्व है।

७. जिस कर्म के उदय से उपकार करने वाला भी अप्रिय लगे, वह दुर्भगनाम है। देवदत्त निरतर दूसरों की भलाई किया करता है, तो भी उसे कोई नही चाहता, ऐसी दशा में समझना चाहिये कि देवदत्त को दुर्भग नाम कर्म का उदय है।

८. जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर कर्कश–सुनने मे अप्रिय लगे, वह दु स्वर नाम कर्म है।

९. जिस कर्म के उदय से जीव का वचन, युक्त होते हुए भी अनादरणीय समझा जाता है, वह अनादेय नाम कर्म है।

१०. जिस कर्म के उदय से दुनिया में अपयश और अपकीर्ति फैले, वह अयश.कीर्ति नाम कर्म है।

स्वाथर-दशक समाप्त हुआ। इस तरह नाम कर्म के ४२, ९३, १०३, और ६७ भेद कह चुके। अब :—

गोत्रकर्म के दो भेद और अन्तराय के पांच भेद कहते है –

गोयं दुहुच्चनीयं कुलाल इव सुघडभुंभलाईयं ।
विग्घं दाणे लाबे भागुवभोगेसु वीरिए य ॥५२॥

(गोयं) गोत्र कर्म (दुहुच्चनीय) दो प्रकार का है.—उच्च और नीय; यह कर्म (कुलाल इव) कुंभार के सदृश है, जो कि (सुगडभुंभलाईयं) सुघट और मद्यघट आदि को वनाता है। (पाणे) दाने, (लाभे) लाभ, (भोगुवभोगेसु) भोग, उपभोग, (य) और (वीरिये) वीर्य, इनमे विघ्न करने के कारण, (विग्घ) अन्तराय कर्म पांच प्रकार का है ।।५२।।

भावार्थ—गोत्रकर्म ७ वां है। उसके दो भेद है:-उच्चैर्गोत्र और नीचैर्गोत्र। यह कर्म कुंभार के सदृश है जैसे वह अनेक प्रकार के घड़े बनाता है, जिन में से कुछ ऐसे होते है, जिनको कलश बनाकर लोग अक्षत, चन्दन आदि से पूजते हैं, और कुछ ऐसे घड़े होते हैं, जो मद्य रखने के काम में आते हैं, अतएव वे निन्द्य समझे जाते हैं। इसी प्रकार :—

१. जिस कर्म के उदय से जीव उत्तम कुल में जन्म लेता है, वह 'उच्चैर्गोत्र' और २ जिस कर्म के उदय से जीव नीच कुल में जन्म लेता है, वह 'नीचैर्गोत्र' है।

धर्म और नीति की रक्षा के सम्बन्ध से जिस कुलने चिरकाल से प्रसिद्धि प्राप्त की है वह उच्च-कुल। जैसे:-इक्ष्वाकुवश, हविवश, चन्द्रवश आदि। अधर्म और अनीति के पालने से जिस कुल ने चिरकाल से अप्रसिद्धि प्राप्त की है, वह नीच कुल। जैसे - भिक्षुक कुल, बधक कुल (कसाइयों का) मद्यविक्रेतृ कुल (दारू वेचने वालों का) चौर कुल इत्यादि।

अन्तरायकर्म, जिसका दूसरा नाम 'विघ्नकर्म' है, उसके पांच भेद है:—१ दानान्तराय, २ लाभान्तराय, ३ भोगान्तराय, ४ उपभोगान्तराय और ५ वीर्यान्तराय।

१. दान की चीजे मौजूद हों, गुणवान् पात्र आया हो, दान का फल जानता हो तो भी जिस कर्म के उदय से जीव को

दान करने का उत्साह नही होता, वह 'दानान्तराय कर्म है।

२. दाता उदार हो, दान की चीजे मौजूद हो, याचना में कुशलता हो तो भी जिस कर्म के उदय से लाभ न हो, वह लाभान्तराय कर्म है। यह न समझना चाहिये कि लाभान्तराय का उदय याचकों को ही होता है। यहां तो दृष्टान्त मात्र दिया गया है। योग्य सामग्री के रहते हुए भी अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति जिस कर्म के उदय से नही होने पाती, वह 'लाभान्तराय' है ऐसा इस कर्म का अर्थ है।

३. भोग के साधन मौजूद हों, वैराग्य न हो, तो भी, जिस कर्म के उदय से जीव, योग्य चीजों को न भोग सके, वह 'भोगान्तराय कर्म' है।

४. उपभोग की सामग्री मौजूद हो, विरति रहित हो तथापि जिस कर्म के उदय से जीव उपभोग्य पदार्थों का उपयोग न ले सके, वह 'उपभोगान्तराय कर्म' है।

जो पदार्थ एक वार भोगे जांय, उन्हे भोग कहते है, जैसे कि फल, फूल, जल, भोजन आदि। जो पदार्थ वार वार भोगे जाय उनको उपभोग कहते है, जैसे कि मकान, वस्त्र, आभूपण, स्त्री आदि।

५ वार्य का अर्थ है सामर्थ्य। वलवान हो, रोग रहित हो, युवा हो तथापि जिस कर्म के उदय से जीव एक तृणको भी टेढ़ा न कर सके, वह 'वीर्यान्तराय' कर्म है। वीर्यान्तराय के भेद तीन है.-१ वालवीर्यान्तराय, २ पण्डितवीर्यान्तराय और ३ वाल-पण्डितवीर्यान्तराय।

१. सासारिक कार्यो को करने में समर्थ हो तो भी जीव, उनको जिसके उदय से न कर सके, वह वालवीर्यान्तरायकर्म।
२. सम्यग्दृष्टि साधु, मोक्ष की चाह रखता हुआ भी, तदर्थ

क्रियाओं को, जिसके उदय से न कर सके, वह 'पण्डितवीर्यान्त-रायकर्म । ३. देश विरति को चाहता हुआ भी जीव, उसका पालन, जिसके उदय से न कर सके, वह 'बालपण्डितवीर्यान्त-रायकर्म' है ।

अन्तरायकर्म भण्डारी के सदृश है.—

सिरिहरियसमं एयं जह पडिकूलेण तेण रायाई ।
न कुणइ दाणाईयं एवं विग्घेण जीवोऽवि ॥५३॥

(एयं) यह अन्तरायकर्म (सिरिहरियसम) श्रीगृही-भण्डारी के समान है, (जह) जैस (तेण) उसके-भण्डारी के (पडिकूलेण) प्रतिकूल होने से (रायाई) राजा आदि (दाणाईय) दान आदि (न कुणइ) नही करते-नही कर सकते । (एव) इस प्रकार (विग्घेण) विघ्नकर्म के कारण (जीवो वि) जीव भी दान आदि नहीं कर सकता ॥५३॥

भावार्थ-देवदत्त याचक ने राजा साहब के पास आकर भोजन की याचना की । राजा साहब, भण्डारी को भोजन देने की आज्ञा देकर चल दिये । भण्डारी असाधारण है । आखे लाल कर उसने याचक से कहा-"चुपचाप चल दो" याचक खाली हाथ लौट गया । राजा की इच्छा थी, पर भण्डारी ने उसे सफल होने नहीं दिया । इस प्रकार जीव राजा है, दान आदि करने की उसकी इच्छा है, पर अन्तरायकर्म इच्छा को सफल नही होने देता ।

८ मूल-प्रकृतियों की तथा १५८ उत्तर-प्रकृतियों की सूची –

कर्म की ८ मूल-प्रकृतियां:—१ ज्ञानवरणीय, २ दर्शनावर-णीय, ३ वेदनीय, ४ मोहनीय, ५ आयु, ६ नाम, ७ गोत्र और ८ अन्तराय ।

ज्ञानावरण की ५ उत्तर-प्रकृतियां:—१ मतिज्ञानावरण, २ श्रुतज्ञानावरण, ३ अवधिज्ञानावरण, ४ मन.पर्यायज्ञानावरण और ५ केवलज्ञानावरण।

दर्शनावरण की ९ उत्तर-प्रकृतियां:—१ चक्षुर्दर्शनावरण, २ अचक्षुर्दर्शनावरण, ३ अवधिदर्शनावरण, ४ केवलदर्शनावरण, ५ निद्रा, ६ निद्रा निद्रा, ७ प्रचला, ८ प्रचला प्रचला और ९ स्त्यानर्द्धि।

वेदनीय की २ उत्तर-प्रकृतिया —१ सातावेदनीय और २ असाता वेदनीय।

मोहनीय की २८ उत्तर-प्रकृतियां.—१ सम्यक्त्व मोहनीय २ मिश्र मोहनीय, ३ मिथ्वात्व मोहनीय, ४ अनन्तानुबन्धि क्रोध ५ अप्रत्याख्यान क्रोध, ६ प्रत्याख्यान क्रोध, ७ सज्वलन क्रोध ८ अनन्तानुवन्धिमान, ९ अप्रत्याख्यानमान, १० प्रत्याख्यानमान, ११ संज्वलन मान, १२ अनन्तानुबन्धिनी माया, १३ अप्रत्याख्यान माया, १४ प्रत्याख्यान माया, १५ सज्वलन माया, १६ अनन्तानुवन्धि लोभ, १७ अप्रत्याखान लोभ, १८ प्रत्याख्यान लोभ, १९ सज्वलन लोभ, २० हास्य, २१ रति, २२ अरति, २३ शोक, २४ भय, २५ जुगुत्सा, २६ पुरुषवेद, २७ स्त्री वेद और २८ नपुंसक वेद।

आयु की ४ उत्तर-प्रकृतियां:—१ देवायु, २ मनुष्यायु, ३ तिर्यञ्चायु और नरकायु।

नाम कर्म की १०३ उत्तर-प्रकृतियां:—१ नरक गति २ तिर्यञ्च गति, ३ मनुष्यगति, ४ देवगति, ५ एकेन्द्रिय जाति, ६ द्वीन्द्रिय जाति, ७ त्रीन्द्रिय जाति, ८ चतुरिन्द्रिय जाति, ९ पञ्चेन्द्रिय जाति, १० औदारिक शरीर नाम, ११ वैक्रिय शरीर नाम, १२ आहारक शरीर नाम, १३ तेजस शरीर नाम, १४ कार्मण

शरीर नाम, १५ औदारिक अङ्गोपाग, १६ वैक्रिय अङ्गोपांग, १७ आहार अगोपांग, १८ औदारिक-औदारिक बन्धन, १९ औदारिक तैजस बन्धन, २० औदारिक-कार्मण बन्धन, २१ औदारिक-तैजस कार्मण बन्धन, २२ वैक्रिय-वैक्रिय बन्धन, २३ वैक्रिय-तैजस बन्धन २४ वैक्रिय-कार्मणबन्धन, २५ वैक्रिय तैजस कार्मण–बन्धन २६ आहारक-आहारक बन्धन, २७ आहारक तैजस बन्धन, २८ आहारक कार्मण बन्धन, २९ आहारक-तैजस-कार्मण बन्धन, ३० तैजस-तैजस बन्धन, ३१ तैजस कार्मण बन्धन, ३२ कार्मण-कार्मण बन्धन, ३३ औदारिक संघातन, ३४ वैक्रिय सघातन, ३५ आहारक सघातन, ३६ तैजस सघातल, ३७ कार्मण सघातन, ३८ वज्र ऋषभनाराचसहनन, ३९ ऋषभनाराचसहनन, ४० नाराच संहनन, ४१ अर्द्ध नाराच संहनन, ४२ कीलिका सहनन, ४३ सेवार्त सहनन, ४४ समचतुरस्र संस्थान, ४५ न्यग्रोध संस्थान, ४६ सादिसस्थान ४७ वामन संस्थान, ४८ कुब्ज सस्थान, ४९ हुण्ड सस्थान, ५० कृष्णवर्ण नाम, ५१ नीलवर्ण नाम, ५२ लोहितवर्ण नाम, ५३ हारिद्रवर्ण नाम, ५४ श्वेतवर्ण नाम, ५५ सुरभिगन्ध, ५६ दुरभिगध, ५७ तिक्तरस, ५८ कटुरस, ५९ कषायरस, ६० आम्लरस, ६१ मधुरस, ६२ कर्कश स्पर्श, ६३ मृदु स्पर्श, ६४ गुरु स्पर्श, ६५ लघु स्पर्श, ६६ शीत स्पर्श, ६७ उष्ण स्पर्श, ६८ स्निग्ध स्पर्श, ६९ रुक्ष स्पर्श, ७० नरकानुपूर्वी, ७१ तिर्यचाननुपूर्वी, ७२ मनुष्यानुपूर्वी, ७३ देवानुपूर्वी, ७४ शुभ विहायोगति, ७५ अशुभ विहायोगति, ७६ पराघात, ७७ उच्छ्वास, ७८ आतप, ७९ उद्योत, ८० अगुरुलघु, ८१ तीर्थंकर नाम, ८२ निर्माण, ८३ उपघात, ८४ त्रस, ८५ वादर, ८६ पर्याप्त, ८७ प्रत्येक, ८८ स्थिर, ८९ शुभ, ९० सुभग, ९१ सुस्वर, ९२ आदेय, ९३ यशः कीर्ति, ९४ स्थावर, ९५ सूक्ष्म, ९६ अपर्याप्त, ९७ साधारण, ९८ अस्थिर, ९९ असुभ,

१०० दुर्भग, १०१ दुःस्वर, १०२ अनादेय और १०३ अयशःकीर्ति।

गोत्र की २ उत्तर प्रकृतियांः—१ उच्चैर्गोत्र, और नीचैर्गोत्र।

अन्तराय की ५ उत्तर प्रकृतियांः—१ दानान्तराय, २ लाभान्तराय, ३ भोगान्तराय, ४ उपभोगान्तराय और ५ वीर्यान्तराय।

वन्ध, उदय, उदीरणा, तथा सत्ता की अपेक्षा प्रकृतियांः—

कर्म नाम	ज्ञानावरण	दर्शनावरण	वेदनीय	मोहनीय	आयु	नाम	गोत्र	अन्तराय	कुल संख्या
बंध-योग प्रकृतिया	५	९	२	२६	४	६७	२	५	१२०
उदययोग प्रकृतिया	५	९	२	२८	४	६७	२	५	१२२
उदीरणा-योग्य प्रकृतिया	५	९	२	२८	४	६७	२	५	१२२
सत्ता योग्य प्रकृतिया	५	९	२	२८	४	१०३ अथवा ९३	२	५	१५८ १४८

कर्मों के स्थूल वन्ध हेतु तथा ज्ञानावरणदर्शनावरण के

वन्ध हेतु :—

पडिणीयत्तण निन्हव उवघायपओसअंतराएणं ।

अच्चासायणयाए आवरणलुगं जिओ जयइ ॥

(पडिणीयत्तण) प्रत्यनीकत्व अनिष्ट आचरण, (निन्ह्व) अपलाप, (उवघाय) उपघात—विनाश, (पओस) प्रद्वेप (अंतराएणं) अन्तराय और (अच्चासायणयाए) अतिआशातना, इनके द्वारा (जिओ) जीव, (आवरणदुग) आवरण-द्विक का ज्ञानावरणीयकर्म और दर्शनावरणीयकर्म का (जयइ) उपार्जन करता है ॥५४॥

भावार्थ—कर्म–वन्ध के मुख्य हेतु मिथ्यात्व, अविरति, कयषा और योग, ये चार है, जिनको कि चौथे कर्म-ग्रन्थ मे विस्तार से कहेगे। यहा संक्षेप से साधारण हेतुओं को कहते है। ज्ञानावरणीयकर्म और दर्शनावरणीयकर्म के बन्ध के साधारण हेतु ये है :—

१. ज्ञानवान् व्यत्तियों के प्रतिकूल आचरण करना। २. अमुक के पास पढकर भी मैने इनसे नही पढ़ा है अथवा अमुख विषय को जानता हुआ भी मै इस विषय को नही जानता. इस प्रकार अपलाप करना। ३. ज्ञानियो का तथा ज्ञान के साधन–पुस्तक, विद्यामन्दिर आदि का, शस्त्र, अग्नि आदि से सर्वथा नाश करना। ४. ज्ञानियों तथा ज्ञान के साधनों पर प्रेम न करना–उन पर अरुचि रखना। ५. विद्यार्थियों के विद्याभ्यास में विघ्न पहुंचाना, जैसे कि भोजन, वस्त्र, स्थान आदि स्थान का उनको लाभ होता हो, तो उसे न होने देना, विद्याभ्यास से छुड़ाकर उनसे अन्य काम करवाना इत्यादि। ६. ज्ञानियों की अत्यन्त आशातना करना; जैसे कि ये नीच कुल के है, इनके मां-वाप का पता नही है, इस प्रकार मर्मच्छेदी बातों को लोक मे प्रकाशित करना, ज्ञानियों को प्राणान्त कष्ट हो इस प्रकार के जाल रचना इत्यादि।

इसी प्रकार निपिद्ध देश (स्मशान आदि) निपिद्ध काल

(प्रतिपद्, दिन-रात का सन्धिकाल आदि) में अभ्यास करना, पढाने वाले गुरु का विनय न करना, उंगली में थूक लगाकर पुस्तको के पन्ने उलटना, ज्ञान के साधन पुस्तक आदि को पैरों से हटाना, पुस्तकों से तकिये का काम लेना, पुस्तकों को भण्डार मे पडे-पड़े सड़ने देना किन्तु उनका सदुपयोग न होने देना, उदर-पोषण को लक्ष्य में रखकर पुस्तके बेचना, पुस्तकों के पात्रों से जूते साफ करना, पढकर विद्या को वेचना, इत्यादि कामों से ज्ञानावरणकर्म का वन्ध होता है। इसी प्रकार दर्शनी–साधु आदि तथा दर्शन के साधन इन्द्रियों का नष्ट करना इत्यादि से दर्शनावरणीय कर्म का वन्ध होता है।

आत्मा के परिणाम ही बंध और मोक्ष के कारण है इसलिये ज्ञानी और ज्ञान साधनों के प्रति जरा सी भी लापरवाही दिखलाना अपना ही घात करना है, क्योंकि ज्ञात आत्मा का गुण है उसके अमर्यादित विकास को प्रकृति ने घेर रखा है। यदि प्रकृति के परदे को हट कर उस अनन्त ज्ञान-शक्ति-रूपिणी देवी के दर्शन करने की लालसा हो, तो उस देवी का और उससे सम्वन्ध रखने वाली ज्ञानी तथा ज्ञान-साधनो का अतःकरण से आदर करो, जरासा भी अनादर करोगे तो प्रकृति का घेरा और भी मजवूत वनेगा। परिणाम होगा कि जो कुछ ज्ञान का विकास इस वक्त तुममें देखा जाता है वह और भी सकुचित हो जायगा। ज्ञान के परिच्छन्न होने से–उसके मर्यादित होने मे ही सारे दुःखों की माला उपस्थित होती है, क्योंकि एक मिनिट के वाद क्या अनिष्ट होने वाला है. यह यदि तुम्हे मालूम हो, तो तुम उस अनिष्ट से वचने की वहुत कुछ कोशिश कर सकते हो। सारांश यह है कि जिस गुण के पास करने से तुम्हे वास्तविक आनंद मिलने वाला है, उस गुण के

होने के लिये जिन-जिन कर्मों को न करना चाहिये उनको यहा दिखलाना दयालु ग्रंथकार ने ठीक ही समझा।

सातावेदनीय तथा असातावेदनीय के बध के कारण:—

गुरुभत्तिखंतिकरुणा–वयजोगकसायविजयदाणजुओ।
दढधम्माई अज्जइ सायमसायं विवज्जयओ ॥५५॥

(गुरुभत्तिखतिकरुणा – वयजोगकसायविजयदाणजुओ) गुरुभक्ति से युक्त, क्षमा-युक्त, करुणा-युक्त, व्रत-युक्त, योग-युक्त, कषाय-विजय-युक्त, दान-युक्त और (दढधम्माई) दृढ धर्म आदि (साय) सातावेदनीय का (अज्जइ) उपार्जन करता है,

और (विवज्जयओ) विपर्यय से(असाय)असातावेदनीय का उपार्जन करता है ॥५५॥

भावार्थ—सातावेदनीय कर्म के बंध होने मे कारण ये है-

१ गुरुओं की सेवा करना अपने से जो श्रेष्ठ है वे गुरु, जैसे कि माता, पिता, धर्माचार्य, विद्या सिखलाने वाला, ज्येष्ठ भ्राता आदि; २ क्षमा करना, अर्थात् अपने में बदला लेने का सामर्थ्य रहते हुए भी अपने साथ बुरा वर्ताव करने वाले के अपराधों को सहन करना, ३ दया करना, अर्थात् दीन दुःखियों के दु.खो को दूर करने की कोशिश करना, ४ अणुव्रतों का अथवा महाव्रतों का पालन करना, ५ योग का पालन करना, अर्थात् चक्रवाल आदि दस प्रकार की साधु की सामाचारी, जिसे सयम-योग कहते है, उसका पालन करना; ६ कषायों पर विजय प्राप्त करना; अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ के वेग से अपनी आत्मा को वचाना, ७ दान करना–सुपात्रों को आहार, वस्त्र आदि का दान करना, रोगियों को औषधि देना, जो जीव, भय

से व्याकुल हो रहे है, उन्हें भय से छुड़ाना, विद्यार्थियों को पुस्तकों का तथा विद्या का दान करना। अन्न-दान से भी बढ़ कर विद्या-दान है, क्योंकि अन्न से क्षणिक तृप्ति होती है, परन्तु विद्या-दान से चिरकाल तक तृप्ति होती है। सब दानों से अभय-दान श्रेष्ठ है; ८ धर्म में—अपनी आत्मा के गुणों में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मे अपनी आत्मा को स्थिर रखना।

गाथा में आदि शब्द है, इसलिये वृद्ध, बाल, ग्लान आदि की वैयावृत्य करना, धर्मात्माओं को उनके धार्मिक कृत्य में सहायता पहुंचाना, चैत्य-पूजन करना इत्यादि भी सातावेदनीय के बध में कारण है, ऐसा समझना चाहिये।

जिन कृत्यों से सातावेदनीयकर्म का बध कहा गया है, उनसे उलटे काम करने वाले जीव असातावेदनीयकर्म को बांधते है; जैसे कि—गुरुओ का अनादर करना वाला, अपने ऊपर किये हुये अपकारों का वदला लेने वाला, क्रूरपरिणाम वाला, निर्दय, किसी प्रकार के व्रत का पालन न करने वाला, उत्कट कषायों वाला, कृपण दान न करने वाला, धर्म के विषय में वेपरवाह, हाथी, घोड़े, वैल आदि पर अधिक बोझा लादने वाला, अपने आपको तथा औरों को शोक-संताप हो ऐसा बर्तात्र करने वाला इत्यादि प्रकार के जीव।

साता का अर्थ है सुख और असाता का अर्थ है दुःख। जिस कर्म से सुख हो, वह सातावेदनीय अर्थात् पुण्य है। जिस कर्म से दुःख हो वह आसातावेदनीय अर्थात् पाप है।

दर्शनमोहनीयकर्म के बंध के कारण—

उम्मग्गदेसणा मग्गनासणा देवदव्वहरणेहिं।
दंसणमोहं जिणमुणिचेइयसंघाइपडिणीओ ॥५६॥

(उम्मग्गदेसणा) उन्मार्गदेशना–असत् मार्ग का उपदेश, (मग्गनासणा) सत् मार्ग का अपलाप, (देवदव्वहरणेहि) देवद्रव्य का हरण, इन कामों से जीव (दंसणमोहं) दर्शनमोहनीय कर्म कों बांधता है, और वह जीव भी दर्शनमोहनीय को बांधता है जो (जिणमुणिचेइयसंघाइपडिणीओ) जिन तीर्थंकर, मुनि–साधु, चैत्य–जिन-प्रतिमाएं, संघ–साधु-साध्वी श्रावक-श्राविका इनके विरुद्ध आचरण करता हो ।।५६।।

भावार्थ—दर्शनमोहनीय कर्म के वध हेतु ये हैः—

१. उन्मार्ग का उपदेश करना–जिन कृत्यों से ससार की वृद्धि होती है उन कृत्यों के विषय मे इस प्रकार का उपदेश करना कि ये मोक्ष के हेतु है; जैसे कि देवी-देवों के सामने पशुओं की हिसा करने को पुण्य-कार्य है ऐसा समझना, एकान्त से ज्ञान अथवा क्रिया का मोक्ष मार्ग वतलाना, दीवाली जैसे पर्वो पर जुआ खेलना पुण्य है इत्यादि उलटा उपदेश करना ।

२ मुक्ति मार्ग का अपलाप करना—न मोक्ष है, न पुण्य-पाप है, न आत्मा ही है, खाओ पीओ, ऐशो-आराम करो, मरने के बाद न कोई आता है न जाता है, पास में धन न हो तो कर्ज लेकर घी पीओ (ऋण कृत्वा घृत पिबेत्), तप करना तो शरीर को निरर्थक सुखाना है, आत्मज्ञान की पुस्तके पढ़ना मानों समय को वरवाद करना है, इत्यादि उपदेश देकर भाले-भाले जीवों को सन्मार्ग से हटाना ।

३. देव-द्रव्य का हरण करना–देव द्रव्य को अपने काम में खर्च करना, देव-द्रव्य की व्यवस्था करने में वेपरवाही दिखलाना, दूसरा कोई उसका दुरुपयोग करता हो तो प्रतिकार की सामर्थ्य रखते हुए भी मौन साध लेना, देव-द्रव्य से अपना व्यापार करना, इसी प्रकार ज्ञान-द्रव्य तथा उपाश्रय-द्रव्य का हरण भी

समझना चाहिये ।

४. जिनेन्द्र भगवान की निन्दा करना—जैसे दुनिया में कोई सर्वज्ञ हो ही नही सकता; समवसरण में छत्र चामर आदि का उपभोग करने के कारण उनको वीतराग नही कह सकते आदि ।

५. साधुओं की निन्दा करना या उनसे शत्रुता करता ।

६. जिन-प्रतिमा की निन्दा करना या उसे हानि पहुंचाना ।

७. सङ्घकी—साधु साध्वी-श्रावक-श्राविकाओं की निन्दा करना या उनसे शत्रुता करना ।

गाथा मे आदि शब्द है, इसलिये सिद्ध, गुरु, आगम वगैरह को लेना चाहिये अर्थात् उनके प्रतिकूल बर्ताव करने से भी दर्शन मोहनीय कर्म का वन्ध होता है ।

चरित्र मोहनीय कर्म के और नरकायु के वन्ध-हेतुः—

दुविहंपि चरणमोहं कसायहासाइविसयविबसमणो ।
बंधइ नरयाउ महारंभपरिग्गहरओ रुद्दो ॥५७॥

(कसायहासाइविसयविवसमणो) कषाय, हास्य आदि तथा विषयों से जिसका मन पराधीन हो गया है ऐसा जीव, (दुविहंपि) दोनो प्रकार के (चरणमोह) चारित्र मोहनीय कर्म को (बंधइ) बांधता है, (महारभपरिग्गहरओ) महान् आरम्भ और परिग्रह में डूबा हुआ तथा (रुद्दो) रौद्र परिणाम वाला जीव, (नरयाउ) नरक को आयु बांधता है ॥५७॥

भावार्थ—चारित्र मोहनीय की उत्तर प्रकृतियां—१६ कषाय, ६ हास्यादि और ३ वेद पहले कह आये है ।

१ अनन्तानुवन्धी क्रोध-मान माया लोभ के उदय से जिनका मन व्याकुल हुआ है ऐसा जीव, अनन्तानुवन्धी अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण-संज्वलन कषायो को बांधता है ।

यहा यह समझना चाहिये कि चारों कषायों का—क्रोध मान माया लोभ का एक साथ ही उदय नही होता है। किन्तु चारो मे से किसी एक का उदय होता है। इसी प्रकार आगे भी समझना।

अप्रत्याख्यानावरण नामक दूसरे कषाय के उदय से पराधीन हुआ जीव, अप्रत्याख्यान आदि १२ प्रकार के कषायों को बाधता है, अनन्तावन्धियों को नही। प्रत्याख्यानावरण कषाय वाला जीव, प्रत्याख्यानावरण आदि आठ कषायो को बाधता है, अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण को नही। सज्वलन कषाय वाला जीव, संज्वलन के चार भेदों को बाधता है, औरो को नही।

२. हास्य आदि नोकषायों के उदय से जो जीव व्याकुल होता है, वह हास्य आदि ६ नोकषायों को बाधता है। (क) भाड जैसी चेष्टा करने वाला, औरों की हसी करने वाला, स्वय हसने वाला, बहुत बकवाद करने वाला जीव, हास्यमोहनीय कर्म को बाधता है। (ख) देश आदि के देखने की उत्कण्ठा वाला, चित्र खीचने वाला, खेलने वाला, दूसरे के मन को अपने आधीन करने वाला जीव रतिमोहनीयकर्म को बाधता है। (ग) ईर्ष्यालु, पाप-शील, दूसरे के सुखों का नाश करने वाला, बुरे कर्मो मे औरों को उत्साहित करने वाला जीव, अरतिमोहनीयकर्म को बाधता है। (घ) खुद डरने वाला, औरों को डराने वाला, औरों को त्रास देने वाला दया-रहित जीव, भयमोहनीयकर्म को बाधता है। (ङ) खुद शोक करने वाला, औरो को शोक कराने वाला, रोने वाला जीव, शोकमोहनीय कर्म को बांधता है। (ज) चतुर्विध सघ की निन्दा कराने वाला, घृणा करने वाला, सदाचार की निन्दा करने-वाला जीव, जुगुप्सा मोहनीय कर्म को बाधता है।

३, स्त्रीवेद आदि के उदय से जीव, वेदमोहनीयकर्मों को बांधता है। (क) ईर्ष्यालु विषयों में आसक्त, अतिकुटिल, परस्त्री-लम्पट जीव, स्त्रीवेद को बांधता है। (ख) स्व-दार-सन्तोषी, मन्दकपाय वाला, सरल, शीलव्रती जीव, पुरुषवेद को बांधता है। (ग) स्त्री-पुरुष सम्बन्धी काम-सेवन करने वाला, तीव्र विपयाभिलापी, सती स्त्रियों का शील भंग करने वाला जीव, नपु सक वेद को बाधता है।

४. नरक की आयु के वन्ध में ये कारण हैः-(१) बहुत-सा आरम्भ करना, अधिक परिग्रह रखना। (२) रौद्र परिणाम करना। इसी प्रकार पञ्चेन्द्रिय प्राणियों का वध करना, मास खाना, वार-वार मैथुन-सेवन करना, दूसरे का धन छीनना, इत्यादि कामों से नरक की आयु का वन्ध होता है।

तिर्यञ्च की आयु के तथा मनुष्य की आयु के बन्ध-हेतु.-

तिरियाउ गूढहियओ सढो ससल्लो तहा मणुस्साउ।
पयईइ तणु कसाओ दाणरुई मज्झिमगुणो अ ॥५८॥

(गुढिहियओ) गूढहृदय वाला अर्थात् जिसके दिल की वात कोई न जान सके ऐसा, (सढो) शठ-जिसकी जवान मीठी हो पर दिल मे जहर भरा हो ऐसा, (ससल्लो) सशल्य अर्थात् महत्त्व कम हो जाने के भय से प्रथम किये हुए पाप कर्मों की आलोचना न करने वाला, ऐसा जीव (तिरियाउ) तिर्यंच की आयु बाधता है, (तहा) उसी प्रकार (पयईइ) प्रकृति से-ही (तणुकसाओ) तनु अर्थात् अल्पकपायवाला, (दाणरुई) दान देने में जिसकी रुचि है ऐसा (अ) और (मज्झिमगुणो) मध्यम गुणो वाला अर्थात् मनुष्यायु वन्ध के योग्य क्षमा, मृदुता आदि गुणो वाला जीव (मणुस्साउ) मनुष्य की आयु को बाधता

है; क्योकि अधमगुणों वाला नरकायु को और उत्तमगुणों वाला देवायु को बांधता है, इसलिये मध्यगुणों वाला कहा गया ॥५८॥

देवायु, शुभनाम और अशुभनाम के वन्ध हेतु:—

अविरयमाइ सुराउं बालतवोऽकामनिज्जरो जयइ ।
सरलो अगारविल्लो सुहनामं अन्नहा असुहं ॥५६॥

(अविरयमाइ) अविरत आदि, (बालतवोऽकामनिज्जरो) वालतपस्वी तथा अकामनिर्जरा करने वाला जीव (सुराउं) देवायु का (जयइ) उपार्जन करता है। (सरलो) निष्कपट और (अगार-विल्लो) गौरव-रहित जीव (सुहनाम) शुभनाम को बाधता है। (अन्नहा) अन्यथा–विपरीत–कपटी और गौरव वाला जीव अशुभनाम को बाधता है ॥५६॥

भावार्थ—ये जीव देवायु को बांधते है:—१. अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य अथवा तिर्यंच, देशविरत अर्थात् श्रावक और सराग-सयमी साधु। २. बाल तपस्वी अर्थात् आत्म स्वरूप को न जानकर अज्ञानपूर्वक कायक्लेश आदि तप करने वाला मिथ्यादृष्टि। ३. अकामनिर्जरा अर्थात् इच्छा के न होते हुए भी जिसके कर्म की निर्जरा हुई है ऐसा जीव। तात्पर्य यह है कि अज्ञान से भूख, प्यास, ठडी, गरमी को सहन करना; स्त्री की अप्राप्ति से शील को धारण करना इत्यादि से जो कर्म की निर्जरा होती है, उसे 'अकामनिर्जरा' कहते है।

जो जीव शुभनामकर्म को वांधते है, वे ये है:—

१. सरल अर्थात् माया–रहित–मन–वाणी–शरीर का व्यापार जिसका एकसा हो ऐसा जीव शुभनाम को वाधता है। २. गौरव-रहित। तीन प्रकार का गौरव है.—ऋद्धि-गौरव, रस-गौरव और सात-गोरव। ऋद्धि का अर्थ है ऐश्वर्य–धन सम्पति,

उससे अपने को महत्त्वशाली समझना, यह ऋद्धिगौरव है। मधुर आम्ल आदि रसों से अपना गौरव समझना यह रस गौरव है। शरीर के आरोग्य का अभिमान रखना सात गौरव है। इन तीनों प्रकार के गौरव से रहित जीव शुभनामकर्म को बांधता है। इसी प्रकार पाप से डरने वाला, क्षमावान, मार्दव आदि गुणों से युक्त जीव शुभनाम को बांधता है। जिन कृत्यों से शुभनाम कर्म का बन्धन होता है उनसे विपरीत कृत्य करने वाले जीव अशुभनामकर्म को बांधते है जैसे कि–

मायावी अर्थात् जिनके मन, वाणी और आचरण में भेद हो; दूसरों को ठगने वाले, झूठी गवाही देने वाले; घी में चर्बी और दूध मे पानी मिला कर वेचने वाले; अपनी तारीफ और दूसरों की निंदा करने वाले, वेश्याओं को वस्त्र-अलंकार आदि देने वाले; देव-द्रव्य, उपाश्रय और ज्ञानद्रव्य खाने वाले या उनका दुरुपयोग करने वाले; ये जीव अशुभ नाम को अर्थात् नरकगति-अयशः–कीर्ति एकेन्द्रिय जाति आदि कर्मों को वाधते है।

गोत्र कर्म के बन्ध हेतुः—

गुणपेही मयरहिओ अज्झयणऽज्झावणारुई निच्चं।
पकुणइ जिणाइभत्तो उच्चं नीयं इयरहा उ ॥६०॥

(गुणपेही) गुण-प्रेक्षी–गुणों को देखने वाला, (मयरहिओ) मद-रहित–जिसे अभिमान न हो, (निच्चं) नित्य (अज्झयणऽज्झावणारुई) अध्ययनाध्यापनरुचि–पढ़ने-पढ़ाने मे जिसकी रुचि है, (जिणाइभत्तो) जिन भगवान् आदि का भक्त ऐसा जीव (उच्च) उच्चगोत्र का (पकुणइ) उपार्जन करता है। (इयरहा उ) इतरथा तु–इससे विपरीत तो (नीय) नीच गोत्र को बांधता है ॥ ६० ॥

भावार्थ—उच्चैर्गोत्रकर्म के वांधने वाले जीव इस प्रकार के होते हैः—

१. किसी व्यक्ति में दोपों के रहते हुए भी उनके विपय में उदासीन, सिर्फ गुणों को ही देखने वाले। २. आठ प्रकार के मदो से रहित अर्थात् जातिमद, कुलमद, वलमद, रूपमद, श्रुतमद, ऐश्वर्यमद, लाभमद और तपोमद इनसे रहित। ३. हमेश: पढ़ने-पढ़ाने मे जिनका अनुराग हो, ऐसे जीव। ४. जिनेन्द्र भगवान्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, माता, पिता, तथा गणवानो की भक्ति करने वाले जीव। ये उच्चगोत्र को बाधते है।

जिन कत्यों से उच्चगोत्र का वन्धन होता है, उनसे उलटे काम करने वाले जीव नीचगोत्र को बांधते है अर्थात् जिनमें गुण-दृष्टि न होकर दोष-दृष्टि हो; जाति-कुल आदि का अभिमान करने वाले, पढ़ने-पढ़ाने से जिन्हें घृणा हो, तीर्थंकर-सिद्ध आदि महा-पुरुषों मे जिनकी भक्ति न हो, ऐसे जीव नीचगोत्र को बाधते है।

अन्तरायकर्म के बन्ध-हेतु तथा ग्रन्थ समाप्तिः—

जिणपूयाविग्घकरो हिंसाइपरायणो जयइ विग्घं।
इय कम्मविवागोयं लिहिओ देविंदसूरिहिं ॥ ६१ ॥

(जिणपूयाविग्घकरो) जिनेन्द्र की पूजा में विघ्न करने वाला तथा (हिसाइपरायणो) हिसा आदि में तत्पर जीव (विग्ध) अन्तरायकर्म का (जयइ) उपार्जन करता है। (इय) इस प्रकार (देविदसूरिहि) श्री देवेन्द्रसूरिने (कम्मविवागोय) इस कर्म्म-विपाक नामक ग्रन्थ को (लिहिओ) लिखा ॥६१॥

भावार्थ—अन्तरायकर्म को बाँधने वाले जीव —जो जीव

जिनेन्द्र की पूजा का यह कहकर निषेध करते हैं कि जल, पुष्प, फलों में हिंसा होती है, अतएव पूजा न करना ही अच्छा है; तथा हिंसा, झूठ, चोरी, रात्री-भोजन करने वाले; सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-रूप मोक्ष मार्ग में दोष दिखला कर भव्य-जीवों को मार्ग से च्युत करने वाले; दूसरों के दान-लाभ-भोग उपभोग में विघ्न करने वाले; मन्त्र आदि के द्वारा दूसरों की शक्ति को हरने वाले, ये जीव अन्तराय कर्म को बांधते हैं।

इस प्रकार श्री देवेन्द्रसूरि ने इस कर्म विपाक-नामक कर्म ग्रन्थ की रचना की, जो कि चान्द्रकुल के तपाचार्य श्री जगच्चन्द्रसूरि के शिष्य है।

॥ इति कर्म विपाक-नामक पहला कर्म ग्रन्थ सम्पूर्ण ॥

परिशिष्ट

श्वेताम्बार-दिगम्वर के कर्म विषयक मतभेद —

प्रकृति भेद—इसमें प्रकृति शद्व के दो अर्थ किये गये हैं—

स्वभाव और समुदाय। श्वेताम्वरी कर्म साहित्य मे ये दोनों अर्थ पाये जाते है। तथा (लोकप्रकाश सर्ग १०, श्लोक १३७) :—

प्रकृतिस्तु स्वभावः स्याद् ज्ञानावृत्यादि कर्मणाम्।
यथा ज्ञानाच्छादनादिः स्थितिः कालविनिश्चयः ॥

तथा एक प्राचीन गाथाः—

ठिइबंधदलस्स ठिइ पएसबंधो पएसगहणं जं।
ताणरसो अणुभागो तस्समुदायो पगइबंधो ॥१॥

परन्तु दिगम्बरीय साहित्य मे 'प्रकृति' शद्व का केवल स्वभाव अर्थ ही उल्लिखित मिलता है। यथा (तत्त्वार्थ अ ८ सू. ३ सर्वार्थसिद्धि तथा राजवार्तिक)—

"प्रकृतिः स्वभावः"

"प्रकृतिः स्वभाव इत्यनर्थान्तरम्"

"पायडी सीलसहावो."—कर्मकाण्ड गाथा २

इनमें जानने योग्य बात यह है कि स्वभाव-अर्थ-पक्ष मे तो अनुभागवन्ध का मतलब कर्म की फल जनक शक्ति की शुभाशुभता तथा तीव्रता-मन्दता से ही है, परन्तु समुदाय-अर्थ-पक्ष मे यह वात नहीं। उस पक्ष में अनुभागबन्ध से कर्म की फल-जनक शक्ति और उसकी शुभाशुभता तथा तीव्रता-मन्दता इतना अर्थ विवक्षित है। क्योंकि उस पक्ष में कर्म का स्वभाव (शक्ति) अर्थ भी अनुभागवन्ध शद्व से ही लिया जाता है।

कर्म के मूल ८ तथा उत्तर १४८ भेदों का जो कथन है, सो माध्यमिक विवक्षा से; क्योंकि वस्तुतः कर्म के असंख्यात प्रकार है। कारणभूत अध्यवसायों मे असंख्यात प्रकार का तरतमभाव होने से तज्जन्य कर्म शक्तियां भी असंख्यात प्रकार की ही होती है, परन्तु उन सबका वर्गीकरण, ८ या १४८ भागों मे इसलिये किया है कि जिससे सर्वसाधारण को समझने में सुभीता हो, यही बात गोम्मटसार (कर्मकाण्ड गाथा ७) मे भी कही है:—

तं पुण अट्ठविहं वा अडदालसयं असंखलोगं वा।
ताणं पुण घादित्ति अघादित्ति य होंति सण्णाओ ॥

आठ कर्म प्रकृतियों के कथन का जो क्रम है, उसकी उपपत्ति पंच संग्रह की टीका में, कर्म विपाक की टीका में, श्री जयसोमसूरि-कृत टवे में तथा श्री जीवविजयजी-कृत बालावबोध मे इस प्रकार दी हुई है:—उपयोग, यह जीव का लक्षण है। इसके ज्ञान और दर्शन दो भेद है। जिनमे से ज्ञान प्रधान माना जाता है। ज्ञान से कर्म-विषयक शास्त्र का या किसी अन्य शास्त्र का विचार किया जा सकता है। जब कोई भी लब्धि प्राप्त होती है तब जीव ज्ञानोपयोग-युक्त ही होता है। मोक्ष की प्राप्ति भी ज्ञानोपयोग के समय में ही होती है। अतएव ज्ञान के आवरण-भूत कर्म-ज्ञानावरण का कथन सबसे पहले किया है। दर्शन की प्रवृत्ति, मुक्त जीवों को ज्ञान के अनन्तर होती है; इसी से दर्शनावरणीयकर्म का कथन पीछे किया है। ज्ञानावरण और दर्शनावरण इन दोनों कर्मों के तीव्र उदय से दुःख का तथा उनके विशिष्ट क्षयोपशम से सुख का अनुभव होता है; इसलिये वेदनीय कर्म का कथन, उक्त दो कर्मों के बाद किया है। वेदनीय के अनन्तर मोहनीय कर्म के कहने का आशय यह है कि सु

वेदने के समय अवश्य ही रागद्वेष का उदय हो आता है। मोह-नीय के अनन्तर आयु का पाठ इसलिये है कि मोह-व्याकुल जीव आरम्भ आदि करके आयु का वन्ध करता ही है। जिसको आयु उदय हुआ उसे गति आदि नाम कर्म भी भोगने पड़ते ही है, इस बात को जानने के लिये आयु के पश्चात् नामकर्म का उल्लेख है। गति आदि नामकर्म के उदय वाले जीव को उच्च या नीचगोत्र का विपाक भोगना पडता है, इसी से नाम के बाद गोत्र कर्म है। उच्च गोत्र वाले जीवों को दानांतराय आदि का क्षयोपशम होता है और नीच गोत्र-विपाकी जीवों को दानान्तराय आदि का उदय रहता है, इसी आशय को बतलाने के लिये गोत्र के पश्चात् अन्तराय का निर्देश किया है।

गोम्मटसार में दी हुई उपपत्ति में कुछ-कुछ भेद भी है। जैसे–अन्तरायकर्म, घाति होने पर भी सबसे पीछे अर्थात् अघाति-कर्म के पीछे कहने का आशय इतना ही है कि वह कर्म घाति होने पर भी अघाति कर्मो की तरह जीव के गुण का सर्वथा घात नही करता तथा उसका उदय, नाम आदि अघातिकर्मो के निमित्त से होता है। तथा वेदनीय अघाति होने पर भी उसका पाठ घातिकर्मो के बीच इसलिये किया गया है कि वह घातिकर्म की तरह मोहनीय के बल से जीव के गुण का घातक है (क. गा. १७-१९)

अर्थावग्रह के नैश्चयिक और व्यावहारिक दो भेद शास्त्र में पाये जाते है (तत्त्वार्थ-टीका पृ. ५७)। जिनमें से नैश्चयिक अर्थावग्रह, उसे समझना चाहिये जो व्यंजनावग्रह के बाद, पर ईहा के पहले होता है तथा जिसकी स्थिति एक समय की है।

व्यावहारिक अर्थावग्रह, अवाय (अपाय) को कहते हैं; पर सब अवाय को नही, किन्तु जो अवाय ईहा को उत्पन्न करता

है उसीको। किसी वस्तु का अव्यक्त ज्ञान (अर्थावग्रह) होने के बाद उसके विशेष धर्म का निश्चय करने के लिये ईहा (विचारणा या सम्भावना) होती है, अनन्तर उस धर्म का निश्चय होता है, वही अवाय कहलाता है। एक धर्म का अवाय हो जाने पर फिर दूसरे धर्म के विषय में ईहा होती है और पीछे से उसका निश्चय भी हो जाता है। इस प्रकार जो-जो अवाय, अन्य धर्म विषयक ईहा को पैदा करता है वह सब व्यावहारिक अर्थावग्रह में परिगणित है। केवल उस अवाय को अवग्रह नहीं कहते, जिसके अनन्तर ईहा उत्पन्न न होकर धारण ही होती है।

अवाय को अर्थावग्रह कहने का सबब इतना ही है कि यद्यपि है वह किसी विशेष धर्म का निश्चयात्मक ज्ञान ही, तथापि उत्तरवर्ती अवाय की अपेक्षा पूर्ववर्त्ती अवाय, सामान्य-विषयक होता है। इसलिये वह सामान्य-विषयक ज्ञानस्वरूप से नैश्चयिक अर्थावग्रह के तुल्य है। अतएव उसे व्यावहारिक अर्थावग्रह कहना असगत नहीं।

यद्यपि जिस शब्द के अन्त में विभक्ति आई हो उसे या जितने भाग में अर्थ की समाप्ति होती हो उसे 'पद' कहा है, तथापि पदश्रुत में पद का मतलब ऐसे पद से नहीं है, किन्तु साकेतिक पद से है। आचराङ्ग आदि आगामों का प्रमाण ऐसे ही पदों से गिना जाता है (लोकप्रकाश सर्ग ३ श्लोक ८२७)। कितने श्लोकों का वह सांकेतिक पद माना जाता है? इस बात का पता तादृश सम्प्रदाय नष्ट होने से नहीं चलता, ऐसा टीका में लिखा है, पर कहीं यह लिखा मिलता है कि प्रायः ५१, ८०, ८६, ८४० श्लोकों का एक पद होता है।

पदश्रुत मे 'पद' शब्द का सांकेतिक अर्थ दिगम्बर साहित्य में भी लिया गया है। आचाराङ्ग आदि का प्रमाण ऐसे ही पदों

से उसमें भी माना गया है, परन्तु उसमें विशेषता यह देखी जाती है कि श्वेताम्बर-साहित्य में पद के प्रमाण के सम्बन्ध में सब आचार्य, आम्नाय का विच्छेद दिखाते है, तब दिगम्बर-शास्त्र मे पद का प्रमाण स्पष्ट लिखा पाया जाता है। गोम्मटसार मे १६३४ करोड़, ८३ लाख, ७ हजार ८८८ अक्षरों का एक पद माना है। बत्तीस अक्षरों का एक श्लोक मानने पर उतने अक्षरों के ५१,८०, ८४, ६२१।। श्लोक होते हैं। तथा (जीवकाण्ड गाथा ३३५)—

सोलससयचउतीसा कोडी तियसीदिलक्खयं चेव।
सत्तपहस्साट्ठसया अट्ठासीदी य पदवण्णा ।।

इस प्रमाण मे ऊपर लिखे हुए उस प्रमाण से बहुत फेर नहीं हैं, जो श्वेताम्बर-शास्त्र में कही-कही पाया जाता है। इससे पद के प्रमाण के सम्बन्ध में श्वेताम्बर-दिगम्बर साहित्य को एक वाक्यता ही सिद्ध होती है।

मनःपर्यायज्ञान के ज्ञेय (विषय) के सम्बन्ध में दो प्रकार का उल्लेख पाया जाता है। पहले में यह लिखा है कि मन.पर्यायज्ञानी मन.पर्यायज्ञान से दूसरों के मन में व्यवस्थित पदार्थ–चिन्त्यमान पदार्थ को जानता है, परन्तु दूसरा उल्लेख यह कहता है कि मनःपर्यायज्ञान से चिन्त्यमान वस्तु का ज्ञान नही होता, किन्तु विचार करने के समय, मन की जो आकृतियां होती हैं उन्हीं का ज्ञान होता है और चिन्त्यमान वस्तु का ज्ञान पीछे से अनुमान द्वारा होता है। पहला उल्लेख दिगम्बरीय साहित्य का है (सबोर्थसिद्धि पृष्ट १२४, राजवार्तिक पृष्ट ५८ और जीवकाण्ड गाथा ४३७-४४७ और दूसरा उल्लेख श्वेताम्बरीय साहित्य का है (तत्त्वार्थ अ. १ सू. २४ टीका, आवश्यक गा. ७६ की टीका, विशेषावश्यकभाष्य पृ. ३९० गा. ८१३-८१४ और लोकप्रकाश

सर्ग ३ श्लोक ८४९ से)।

अवधिज्ञान तथा मन.पर्यायज्ञान की उत्पत्ति के सम्वन्ध में गोम्मटसार का जो मन्तव्य है वह श्वेताम्बर-साहित्य में कही देखने में नही आया। वह मन्तव्य इस प्रकार है:—

अवधिज्ञान की उत्पत्ति आत्मा के उन्ही प्रदेशो से होती है, जो कि शंख आदि-शुभ-चिन्ह वाले अङ्गों मे वर्तमान होते है, तथा मनःपर्यायज्ञान की उत्पत्ति आत्मा के उन प्रदेशों से होती है जिनका कि सम्वन्ध द्रव्यमन के साथ है अर्थात् द्रव्यमन का स्थान हृदय ही है, इसलिये हृदय-भाग में स्थित आत्मा के प्रदेशो ही में मनःपर्यायज्ञान का क्षयोपशम है; परन्तु शख आदि शुभ चिन्हों का सम्भव सभी अङ्गों में हो सकता, है इस कारण अवधिज्ञान के क्षयोपशम की योग्यता, किसी खास अङ्ग में वर्तमान आत्मप्रदेशों में ही नही मानी जा सकती; यथा (जी गा. ४४१)

सव्वंगअंगसंभवचिण्हादुप्पज्जदे जहा ओही।
मणपज्जंव चदव्वमणादो उपज्जदे णियमा॥

द्रव्यमन के सम्वन्ध में भी जो कल्पना दिगम्वर-सम्प्रदाय मे है, वह श्वेताम्वर-सम्प्रदाय मे नही। सो इस प्रकार है:—

द्रव्यमान, हृदय में ही है। उसका आकार आठ पत्र वाले कमलका-सा है। वह मनोवर्गणा के स्कन्धों से वनता है। उसके बनने में अंतरंग कारण अङ्गोपाङ्गनाम कर्म का उदय है। यथा—

हिदि होंदिहु दव्वमणं वियसिय अट्ठच्छदारविंदं वा।
अंगोवंगुदयादो मणवग्गणखंधदो णियमा॥ (जी. गा. ४४२)

इस ग्रन्थ की १२ वीं गाथा मे स्त्यानगृद्धिनिद्रा का स्वरूप

कहा गया है। उसमें जो यह कहा है कि "स्त्यानगृद्धिनिद्रा के समय, वासुदेव-जितना बल प्रगट होता है, सो वज्रऋषभनाराचसंहनन की अपेक्षा से जानना। अन्य संहनन वालों को उस निद्रा के समय, वर्तमान युवकों के बल से आठ गुना बल होता है"—यह अभिप्राय कर्मग्रन्थ-वृत्ति आदि का है। जीवकल्पवृत्ति में तो इतना और भी विशेष है कि "वह निद्रा, प्रथम संहनन के सिवाय अन्य संहनन वालों को होती ही नहीं और जिसको होने का सम्भव है वह भी उस निद्रा के अभाव में अन्य मनुष्यों से तीन चार गुना अधिक बल रखता" (लोक. स॰ १०, श्लो. १५०)

मिथ्यात्वमोहनीय के तीन पुंजों की समानता छाछ से शोधे हुये शुद्ध, अशुद्ध और अर्धविशुद्ध कौदों के साथ, की गई है। परन्तु गोम्मटसार में इन तीन पुंजों को समझाने के लिये चक्की से पीसे हुए कौदों का दृष्टान्त दिया गया है। उसमें चक्की से पीसे हुये कौदों के भूसे के साथ अशुद्ध पुंजों की, तडुले के साथ शुद्ध पुंजों की और कण के साथ अर्धविशुद्ध पुंज की बराबरी की गई है। प्राथमिक उपशमसम्यक्त्व-परिणाम (ग्रन्थिभेद-जन्य सम्यक्त्व) जिससे मोहनीय के दलिक शुद्ध होते है उसे चक्कीस्थानीय माना है। (कर्मकाण्ड गाथा २६)

कषाय के ४ विभाग किये है, सो उसके रस की (शक्ति की) तीव्रता-मन्दता के आधार पर। सबसे अधिक-रस वाले कषाय को अनन्तानुबन्धी, उससे कुछ कम-रस वाले कषाय को अप्रत्यख्यानावरण, उससे भी मन्दरस वाले कषाय को प्रत्याख्यानावरण और सबसे मन्दरस वाले कषाय को संज्वलन कहते हैं।

इस ग्रन्थ की गाथा १८ वीं में उक्त ४ कषायों का जो कालमान कहा गया है, वह उनकी वासना का समझना चाहिये।

वासना, असर (संस्कार) को कहते हैं। जीवन-पर्यन्त स्थिति वाले अनन्तानुवन्धी का मतलव यह है कि वह कपाय इतना तीव्र होता है कि जिसका असर जिन्दगी तक वना रहता है। अप्रत्याख्यानावरण कपाय का असर वर्ष-पर्यन्त माना गया है। इसी प्रकार अन्य कपायों की स्थिति के प्रमाण को भी उनके असर की स्थिति का प्रमाण समझना चाहिये। यद्यपि गोम्मटसार में वतलाई हुई स्थिति, कर्मग्रन्थवणित स्थिति से कुछ भिन्न है यद्यपि उसमें (कर्मकाण्ड-गाथा ४६ में) कषाय के स्थिति-काल को वासनाकाल स्पष्टरूप से कहा है। यह ठीक भी जान पड़ता है। क्योकि एक वार कषाय हुआ कि पीछे उसका असर थोड़ा वहुत रहता ही है। इसलिए उस असर की स्थिति को ही कपाय की स्थिति कहने में कोई विरोध नहीं है।

कर्मग्रन्थ में और गोम्मटसार में कपायों को जिन जिन पदार्थो की उपमा दी है, वे सव एक ही हैं। भेद केवल इतना ही है कि प्रत्याख्यानावरण लोभ को गोम्मटसार में शरीर के मल की उपमा दी है और कर्मग्रन्थ में खंजन (कज्जल) की। [जीव. गा. २८६]

पृष्ट ५० अपवर्त्य आयु का स्वरूप दिखाया है। इसके वर्णन मे जिस मरण को 'अकालमरण' कहा है, उसे गोम्मटसार में 'कदलीघातमरण' कहा है। यह 'कदलीघात' शद्व अकाल मृत्यु अर्थ मे अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता। [कर्मकाण्ड, गाथा ५७]

संहनन शद्व का अस्थिनिचय (हड्डियों की रचना) जो अर्थ किया गया है, सो कर्मग्रन्थ के मतानुसार। सिद्धांत के मतानुसार संहनन का अर्थ शक्ति-विशेष है। यथा प्राचीन तृ. क. टीका—

"सुत्तो सत्तिविसेसो संघयणमिहट्ठिनिचउत्ति"–पृष्ट ६६

कर्मविषयक साहित्य की कुछ ऐसी संज्ञाएं आगे दी जाती है कि जिनके अर्थ में श्वेताम्बर-दिगम्बर-साहित्य में थोड़ा-बहुत भेद दृष्टिगोचर होता है:—

श्वेताम्बर	दिगम्बर
प्रचलाप्रचलानिद्रा, वह है जो मनुष्य को चलते-फिरते भी आती है।	प्रचलाप्रचला का उदय जिस आत्मा को होता है उसके मुंह से लार टपकती है तथा उसके हाथ-पांव आदि अंग कांपते हैं।
निद्रा, उस निद्रा को कहते है जिसमें सोता हुआ मनुष्य अनायास उठाया जा सके।	निद्रा–इसके उदय से जीव चलते चलते खड़ा रह जाता है और गिर भी जाता है। ※
प्रचला, वह निद्रा है जो खड़े हुए या बैठे हुए प्राणी को भी आती है।	प्रचला के उदय से प्राणी नेत्र को थोडा मुंद कर सोता है, सोता हुआ भी थोड़ा ज्ञान करता रहता है और बार बार मन्द निन्द्रा लिया करता है। ×
गतिनामकर्म से मनुष्य नारक–आदि पर्याय की प्राप्ति मात्र होती है।	गतिनामकर्म, उस कर्म प्रकृति को कहा है जिसके उदय से आत्मा भवान्तर को जाता है।

※ कर्मकाण्ड गाथा २४। + कर्मकाण्ड गाथ २५।

निर्माण नाम कर्म का कार्य अङ्गोपाङ्गों को अपने-अपने स्थान में व्यवस्थित करना इतना ही माना गया है।

निर्माण नाम कर्म के स्थान-निर्माण और प्रमाण-निर्माण, ये दो भेद मानकर इनका कार्य अंगोपांगों को यथास्थान व्यवस्थित करना और प्रमाणोपेत बनाना है।

आनुपूर्वी नामकर्म, समश्रेणि से गमन करते हुए जीव को खींच कर, उसे उसके विश्रेणिपतित उत्पत्ति स्थान को पहुंचाता है।

आनुपूर्वी नामकर्म का प्रयोजन पूर्व शरीर छोड़ने के बाद और नया नया शरीर धारण करने के पहले—अन्तराल गति में जीव का आकार पूर्व शरीर के समान बनाये रखना है।

उपघात नामकर्म के मतभेद से दो कार्य हैं। १ यह कि गले में फांसी लगाकर या कही ऊंचे से गिरकर अपने ही आप आत्महत्या की चेष्टा द्वारा दुःखी होना; २ पड़जीभ, रसौली, छठी उंगली, बाहर निकले हुए दात आदि से तकलीफ पाना। +

उपघात नामकर्म—इसके उदय से प्राणी, फांसी आदि से अपनी हत्या कर लेता और दुःख पाता है।

शुभ नामकर्म से नाभि के ऊपर के अवयव शुभ होते

शुभ मान—यह कर्म, रमणीयता का कारण है।

+ श्री यशोविजयजी-कृत कम्मपयडी व्याख्या पृष्ट ५।

है।

अशुभ नामकर्म के उदय से नाभि के ऊपर के अवयव अशुभ होते हैं।

स्थिर नामकर्म के उदय से सिर, हड्डी, दांत आदि अवयवों में अस्थिरता आती है।

अस्थिर नामकर्म से सिर, हड्डी, दांत आदि अवयवों में अस्थिरता आती है।

जो कुछ कहा जाय उसे लोग प्रमाण समझ कर मान लेते और सत्कार आदि करते है, वह आदेयनाम कर्म का फल है। आदेयनाम कर्म का कार्य उससे उलटा है अर्थात् हितकारी वचन को भी लोग प्रमाण-रूप नही मानते और न सत्कार आदि ही करते हैं।

दान-तप-शौर्य-आदि-जन्य यश से जो प्रशंसा

अशुभ नामकर्म, उसका उदय कुरुप का कारण है।

स्थिर नामकर्म के उदय से शरीर तथा धातु-उपधातु में स्थिर भाव रहता है जिससे कि उपसर्ग-तपस्या आदि अन्य कष्ट सहन किया जा सकता है।

अस्थिर नामकर्म से अस्थिर भाव पैदा होता है जिससे थोड़ा भी कष्ट नही सहा जाता।

आदेय नामकर्म, इसके उदय से शरीर, प्रभा-युक्त बनता है। इसके विपरीत आदेय नामकर्म से शरीर प्रभा-हीन होता है।

यशःकीर्तिनामकर्म, यह पुण्य और गुणों के कीर्तन

कर्मग्रन्थ भाग १ के प्रश्नोत्तर

प्र० १-श्री शब्द के कितने अर्थ होते है ?

उ० श्री शब्द का अर्थ लक्ष्मी होता है। लक्ष्मी दो प्रकार की होती है :-

१ अन्तरंग लक्ष्मी और २ वाह्य लक्ष्मी।

प्र० २-अन्तरंग लक्ष्मी किसे कहते है ?

प्र० २-अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, और अनन्तवीर्य आदि स्वाभाविक गुणों को अन्तरंग लक्ष्मी कहते है।

प्र० ३-वहिरंग लक्ष्मी किसे कहते है ?

उ० अशोकवृक्ष, सुरपुष्पवृष्टि, दिव्यध्वनि, चामर, भामंडल, आसन, दुन्दुभि, आतपत्र इन आठ महाप्रतिहार्य आदि को वाह्य लक्ष्मी कहते है।

प्र० ४-जिन किसे कहते है ?

उ० मोह, राग, द्वेष काम, क्रोध आदि अन्तरंग शत्रुओं को जीत कर जिसने केवल्य प्राप्त कर लिया है, उसे जिन कहते है।

प्र० ५-प्रकृतिवन्ध किसे कहते है ?

उ० जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म पुद्गलों में अलग-अलग स्वभावों का या शक्तियो का पैदा होना प्रकृतिवन्ध है।

प्र० ६-स्थितिवन्ध किसे कहते है ?

उ० जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म पुद्गलों मे अमुक काल तक अपने स्वभावों का त्याग न कर

साथ रहने की काल मर्यादा को स्थितिवन्ध कहते है।

प्र० ७-अनुभाग बन्ध किसे कहते है ?

उ० जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म पुद्गलों में रस के तरतम भाव का या फल देने का न्यूनाधिक शक्ति का होना रस बन्ध कहलाता है। रस वन्ध को अनुभाग बन्ध भी कहते है।

प्र० ८-प्रदेश बध किसे कहते है ?

उ० जीव के साथ न्यूनाधिक परमाणु वाले कर्मस्कन्धों का सम्बन्ध होना प्रदेशबध कहलाता है।

प्र० ९-ज्ञानावरणीय कर्म किसे कहते हैं ?

उ० जो कर्म आत्मा के ज्ञान गुणों को आच्छादित करे, ढक दे, उसे ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं।

प्र० १०-दर्शनावरणीय कर्म किसे कहते है ?

उ० जो कर्म आत्मा के दर्शन गुणों को अच्छादित करे, उसे दर्शनावरणीय कहते कर्म है।

प्र० ११-वेदनीय कर्म किसे कहते है ?

उ० वेदनीय कर्म उसे कहते है, जो आत्मा को सुख दुख पहुचावे।

प्र० १२-मोहनीय कर्म किसे कहते है ?

जो कर्म स्व-पर विवेक में तथा स्वरुप रमण में वांधा पहुचाता है वह मोहनी कर्म है या जो कर्म आत्मा के सम्यक्त्व गुण का घातकरे उसे मोहनीय कर्म कहते है।

प्र० १३-आयु कर्म किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के अस्तित्व से जीव जीता है तथा क्षय से मरता है, वह आयु कर्म कहलाता है।

प्र० १४-नाम कर्म किसे कहते है ?

जिस कर्म के उदय से जीव नरक तिर्यंच, देव आदि नामो से जाना जाय व कहा जाता है या अमुक जीव नारक है, तिर्यचं है, मनुष्य है आदि नामों से कहा जाना है वह नाम कर्म है।

१५-गौत्र कर्म उसे महते है ?

गौत्र कर्म किसे कहते है, जो कर्म आत्मा को उच्च या नीच कुल में पैदा करवाता है।

१६-अन्तराय कर्म किसे कहते है ?

जो कर्म आत्मा के वीर्य दान लाभ, भोग, उपभोग, रुप शक्तियों का घात करने वाला है, वह अन्तराय कर्म है।

१७-मतिज्ञान किसे कहते है ?

इन्द्रिय और मन के द्वारा जो ज्ञान होता है, उसे मतिज्ञान कहते है।

१८-श्रुतज्ञान किसे कहते है ?

शास्त्रों के वांचने और सुनने से जो अर्थ ज्ञान होता है, उसे श्रुत ज्ञान कहते है।

१९-अवधिज्ञान किसे कहते है ?

इन्द्रिय तथा मन की सहायता के विना, मर्यादा को लिये हुए स्थान तक रुप वाले द्रव्यों का जो ज्ञान होता है वह अवधिज्ञान है।

२०-मन.पर्याय ज्ञान किसे कहते है ?

इन्द्रिय तया मन की मदद के विना मर्यादा को लिये हुये संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को जानना, मनःपर्याय ज्ञान कहलाता है।

२१-केवल ज्ञान किसे कहते है ?

ससार के भूत, भविष्य, वर्तमान काल के सम्पूर्ण

पदार्थों का युग पत (एक साथ) जानना; केवल ज्ञान कहा जाता है।

प्र० २२-अक्षर श्रुत किसे कहते है ?

उ० अक्षरों के आकार को अक्षर श्रुत कहते हैं। अक्षर के ३ भेद हैं:-१ संज्ञाक्षर, व्यंजनाक्षर लब्ध्यक्षर अलग-२ लिपियां जो लिखने के काम आती है। उनको संज्ञाक्षर कहते है। अकार से लेकर हकार तक के वर्ण जो उच्चारण के काम में आते हैं, उनको व्यजंनाक्षर कहते हैं। अर्थात जिनका वोलने में उपयोग होता है। वर्ण व्यजंनाक्षर कहलाते है। संज्ञाक्षर और व्यजना-क्षर से भाव श्रुत होता है, इसलिये इन दोनों को द्रव्य श्रुत कहते है। शद्व के सुनने या रूप के देखने आदि से अर्थ की प्रतीति के साथ साथ अक्षरों का जो ज्ञान होता है उसे लव्धाक्षर कहते है।

प्र० २३-अनक्षर श्रुत किसे कहते हैं ?

उ० छींकना, चुटकी बजाना, सिर हिलाना, इत्यादि संकेतो से औरों का अभिप्राय जानना, अनक्षर श्रुत है।

प्र० २४-संज्ञी श्रुत किसे कहने है ?

उ० जिन पंचेन्द्रिय जीवों को मन है वे संज्ञी, उनका श्रुत, संज्ञी श्रुत है। संज्ञी का अर्थ है, संज्ञा जिनको हो, संज्ञा के ३ भेद हैं:-१ दीर्घकालिकी, २ हेतोबादो पदेशिकी, ३ दृष्टिवादोपदेशिकी।

प्र० २५-दीर्घकालिक संज्ञा किसे कहते है ?

उ० मैं अमुक काम कर चुका हूँ, अमुक काम कर रहा हूँ, और अमुक काम करूंगा, इस प्रकार का भूत, भविष्य

और वर्तमान का जिससे ज्ञान होता है। वह दीर्घ-कालिक संज्ञा है। संज्ञा श्रुत में जो सज्ञी लिये जाते है वे दीर्घकालिकी संज्ञा वाले है। यह सज्ञा देव, नारक, गर्भज, तिर्यच और मनुष्यों को होती है।

प्र० २६-हेतु वादोपदेशिकी सज्ञा किसे कहते है ?

उ० अपने शरीर के पालने के लिये इष्ट वस्तु मे प्रवृत्ति और अनिष्ट वस्तु में निवत्ति के लिये उपयोगी, मात्र वर्तमान कालिकी ज्ञान जिससे होता है, उसे हेतु वादोपदेशिकी संज्ञा कहते है। यही संज्ञाद्वीन्द्रिय आदि असज्ञी जीवों को होती है।

प्र० २७-दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा किसे कहते है ?

उ० यह संज्ञा चतुर्दशपूर्वधारी मुनिराज को होती है।

प्र० २८-असज्ञी श्रुत किसे कहते हैं।

उ० जिन जीवो को मन ही नही है वे असज्ञी है, उनका श्रुत, असंज्ञी श्रुत कहा जाता है।

प्र० २९-सम्यक श्रुत किसे कहते है ?

उ० सम्यदृष्टि जीवों का श्रुत, सम्यक श्रुत है।

प्र० ३०-मिथ्यादृष्टि श्रुत किसे कहते है ?

उ० मिथ्यादृष्टि जीवों का श्रुत, मिथ्या श्रुत कहा जाता है।

प्र० ३१-सादि श्रुत किसे कहते है ?

उ० जिसका आदि हो, वह सादि श्रुत है।

प्र० ३२-अनादि श्रुत किसे कहते है ?

उ० जिसका आदि न हो, वह अनादि श्रुत है।

प्र० ३३-सपर्यवसित श्रुत किसे कहते है ?

उ० जिसका अन्त हो, वह सपर्यवसित श्रुत है।

पदार्थों का युग पत (एक साथ) जानना; केवल ज्ञान कहा जाता है।

प्र० २२-अक्षर श्रुत किसे कहते है ?

उ० अक्षरों के आकार को अक्षर श्रुत कहते हैं। अक्षर के ३ भेद हैं:-१ संज्ञाक्षर, व्यंजनाक्षर लब्व्यक्षर अलग-२ लिपियां जो लिखने के काम आती है। उनको संज्ञाक्षर कहते है। अकार से लेकर हकार तक के वर्ण जो उच्चारण के काम में आते हैं, उनको व्यजंनाक्षर कहते हैं। अर्थात जिनका वोलने में उपयोग होता है। वर्ण व्यजंनाक्षर कहलाते है। संज्ञाक्षर और व्यजनाक्षर से भाव श्रुत होता है, इसलिये इन दोनों को द्रव्य श्रुत कहते है। शद्ब के सुनने या रूप के देखने आदि से अर्थ की प्रतीति के साथ साथ अक्षरों का जो ज्ञान होता है उसे लव्घाक्षर कहते हैं।

प्र० २३-अनक्षर श्रुत किसे कहते हैं ?

उ० छीकना, चुटकी वजाना, सिर हिलाना, इत्यादि सकेतों से औरों का अभिप्राय जानना, अनक्षर श्रुत है।

प्र० २४-संज्ञी श्रुत किसे कहने हैं ?

उ० जिन पंचेन्द्रिय जीवों को मन है वे संज्ञी, उनका श्रुत, संज्ञी श्रुत है। संज्ञी का अर्थ है, संज्ञा जिनको हो, संज्ञा के ३ भेद है:-१ दीर्घकालिकी, २ हेतोवादो पदेशिकी, ३ दृष्टिवादोपदेशिकी।

प्र० २५-दीर्घकालिक संज्ञा किसे कहते हैं ?

उ० मैं अमुक काम कर चुका हूँ, अमुक काम कर रहा हूँ, और अमुक काम करूंगा, इस प्रकार का भूत, भविष्य

और वर्तमान का जिससे ज्ञान होता है। वह दीर्घ-कालिक संज्ञा है। संज्ञा श्रुत में जो सज्ञी लिये जाते है वे दीर्घकालिकी संज्ञा वाले है। यह सज्ञा देव, नारक, गर्भज, तिर्यंच और मनुष्यों को होती है।

प्र० २६-हेतु वादोपदेशिकी सज्ञा किसे कहते है ?

उ० अपने शरीर के पालने के लिये इष्ट वस्तु मे प्रवृत्ति और अनिष्ट वस्तु मे निवत्ति के लिये उपयोगी, मात्र वर्तमान कालिकी ज्ञान जिससे होता है, उसे हेतु वादोपदेशिकी संज्ञा कहते है। यही सज्ञाद्वीन्द्रिय आदि असज्ञी जीवों को होती है।

प्र० २७-दृष्टिवादोपदेशिकी सज्ञा किसे कहते है ?

उ० यह संज्ञा चतुर्दशपूर्वधारी मुनिराज को होती है।

प्र० २८-असंज्ञी श्रुत किसे कहते है।

उ० जिन जीवो को मन ही नही है वे असज्ञी है, उनका श्रुत, असंज्ञी श्रुत कहा जाता है।

प्र० २९-सम्यक श्रुत किसे कहते है ?

उ० सम्यदृष्टि जीवों का श्रुत, सम्यक श्रुत है।

प्र० ३०-मिथ्यादृष्टि श्रुत किसे कहते है ?

उ० मिथ्यादृष्टि जीवों का श्रुत, मिथ्या श्रुत कहा जाता है।

प्र० ३१-सादि श्रुत किसे कहते है ?

उ० जिसका आदि हो, वह सादि श्रुत है।

प्र० ३२-अनादि श्रुत किसे कहते है ?

उ० जिसका आदि न हो, वह अनादि श्रुत है।

प्र० ३३-सपर्यवसित श्रुत किसे कहते है ?

उ० जिसका अन्त हो, वह सपर्यवसित श्रुत है।

प्र० ३४-अपर्यवसित श्रुत किसे कहते है ?

उ० जिसका अन्त न हो, वह अपर्यवसित श्रुत है।

प्र० ३५-गमिक श्रुत किसे कहते है ?

उ० जिसमें एक समान पाठ हो, वह गमिक श्रुत है। जैसे:-दृष्टिवाद।

प्र० ३६-अगमिक श्रुत किसे कहते है ?

उ० जिसमें एक समान पाठ न हो, वह अगमिक श्रुत है।

प्र० ३७-अगप्रविष्ट श्रुत किसे कहते है ?

उ० आचारंग आदि बारह प्रकार के अंङ्गों के ज्ञान को अगंप्रविष्ट श्रुत कहते है।

प्र० ३८-अनंगप्रविष्ट श्रुत किसे कहते है ?

उ० बारह अंग से अलग दशवैकालिक, उतराध्ययन, प्रकरण आदि का ज्ञान, अनंगप्रविष्ट श्रुत कहा जाता है।

प्र० ३९-पर्याय श्रुत किसे कहते हैं ?

उ० उत्पत्ति के प्रथम समय में, लब्धि अपर्याप्त सुक्ष्म निगोद के जीव को जो कुश्रुत का अंश होता है, उससे दूसरे समय में ज्ञान का जितना अश बढ़ता है, वह पर्याय श्रुत हैं।

प्र० ४०-पर्याय समास श्रुत किसे कहते है ?

उ० उक्त पर्यायश्रुत के समुदाय को अर्थात् २, ३, आदि सख्याओं को पर्याय समासश्रुत ज्ञान कहते हैं।

प्र० ४१-अक्षर श्रुत किसे कहते है ?

उ० अकार आदि लध्यक्षरों में से किसी एक अक्षर को, अक्षर श्रुत कहते है।

प्र० ४२-अक्षर समासश्रुत किसे कहते हैं ?

उ० लध्यक्षरों के समुदाय को अर्थात्, २, ३, आदि संख्याओं

को अक्षर समास श्रुत कहते है ।

प्र० ४३-पद श्रुत किसे कहते हैं ?

उ० जिस अक्षर समुदाय से पूरा अर्थ मालूम हो, वह पद, और उसके ज्ञान को, पद श्रुत कहते है ।

प्र० ४४-पद समास श्रुत किसे कहते हैं ?

उ० पदो के समुदाय का ज्ञान, को पद समास श्रुत कहते है ।

प्र० ४५-सघात श्रुत किसे कहते हैं ?

उ० गति आदि चौदह मार्गणाओं में से, किसी एक मार्गणा के एक देश के ज्ञान को संघात-श्रुत कहते हैं, जैसे:-गति मार्गणा केचार अवयव हैं ? देवगति, तिर्यंच गति, मनुष्य गति, और नरक गति, इनमें से एक का ज्ञान को सघात श्रुत कहते है ।

प्र० ४६-संघात समास श्रुत किसे कहते हैं ।

किसी एक मार्गणा के अनेक अवयवों का ज्ञान को सघात समास श्रुत कहते है ।

प्र० ४७-प्रतिप्रत्ति श्रुत किसे कहते है ?

उ० गति, इन्द्रिय आदि द्वारों में से किसी एक द्वार के जरिये समस्त संसारी जीवों को जानना प्रतिपत्ति श्रुत है ।

प्र० ४८-प्रतिपत्ति समास श्रुत किसे कहते हैं ?

उ० गति आदि २, ४, द्वारों के जरिये से जीव के ज्ञान को प्रतिपत्ति समास श्रुत कहते है ?

प्र० ४९-अनुयोग श्रुत किसे कहते है ?

उ० संनृपय प्ररुवणयादब्वपमाणं च, इस गाथा में कहे हुए अनुयोग द्वारों में से किसी एक के द्वारा जीवादि

पदार्थों को जानना, अनुयोग श्रुत कहते है।

प्र० ५०-अनुयोग समास श्रुत किसे कहते है ?

उ० एक से अधिक २, ३, अनुयोग द्वारों का ज्ञान, अनुयोग श्रुत समास कहते हैं।

प्र० ५१-प्राभृत-प्राभृत श्रुत किसे कहते है ?

उ० दृष्टिवाद के अन्दर प्राभृत-प्राभृत नामक अधिकार है उनमें से किसी एक का ज्ञान प्राभृत-प्राभृत श्रुत है।

प्र० ५२-प्राभृत-प्राभृत समास श्रुत किसे कहते है ?

उ० दो, चार, प्राभृत-प्राभृत के ज्ञान को प्राभृत-प्राभृ समास श्रुत कहते है।

प्र० ५३-प्राभृत श्रुत किसे कहते है ?

उ० जिस प्रकार कई उद्देश्यों का एक अध्ययन होता है उसी प्रकार कई प्राभृत-प्राभृतों का एक प्राभृत होत है, उस एक का ज्ञान, प्राभृत श्रुत है।

प्र० ५४-प्राभृत समास श्रुत किसे कहते है ?

उ० एक से अधिक प्राभृतों का ज्ञान, प्राभृत समास श्रुत है

प्र० ५५-वस्तु श्रुत किसे कहते हैं ?

उ० कई प्राभृतों का एक वस्तु नामक अधिकार होता है उस एक का ज्ञान, वस्तु श्रुत है।

प्र० ५६-वस्तु समास श्रुत किसे कहते है ?

उ० दो, चार, वस्तुओं का ज्ञान, वस्तु समास श्रुत है।

प्र० ५७-पूर्व श्रुत किसे कहते हैं ?

उ० अनेक वस्तुओं का एक पूर्व होता है, उसका एक क ज्ञान करना पूर्व श्रुत है।

प्र० ५८-पूर्व समास श्रुत किसे कहते है ?

उ० दो, चार यावत् १४ पूर्वो का ज्ञान, पूर्व समास-श्रुत है।

प्र० ५९-अनुगामी अवधिज्ञान किसे कहते हैं ?

उ० एक जगह से दूसरी जगह जाने पर भी जो अवधिज्ञान आंख के समान साथ ही रहे, उसे अनुगामी अवधि-ज्ञान कहते है।

प्र० ६०-अननुगामी अवधिज्ञान किसे कहते है ?

उ० जो अनुगामी से उल्टा हो, अर्थात् जिस जगह अव-धिज्ञान प्रकट हो, वहां से दूसरी जगह जाने पर कायम न रहे, उसे अननुगामी अवधिज्ञान कहते है।

प्र० ६१-वर्धमान अवधिज्ञान किसे कहते है ?

उ० जो अवधिज्ञान, परिणाम विशुद्ध के साथ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा को लिये दिन-दिन बढ़े, उसे वर्धमान अवधिज्ञान कहते है।

प्र० ६२-हीयमान अवधिज्ञान किसे कहते हैं ?

उ० जो अवधिज्ञान परिणामों की अशुधि के साथ-साथ दिन-दिन घटे कम हो जाय उसे ही हीयमान अव-धिज्ञान कहते है।

प्र० ६३-प्रतिपाति अवधिज्ञान किसे कहते है ?

उ० जो अवधिज्ञान, फूंक सेदीपक के प्रकाश की भांति यकायक गायब हो जाय, चला जाय उसे प्रति प्रति-पाति अवधिज्ञान कहते है।

प्र० ६४-अप्रतिपाति अवधिज्ञान किसे कहते हैं ?

जो अवधि ज्ञान, केवल ज्ञान से अंतर्मुहूंत पहले प्रकट प्रकट होता है और बाद में केवल ज्ञान में समावेश हो जाता है; उसे अप्रतिपाति अवधिज्ञान कहते है। इसी अप्रतिपाति को परमावधि भी कहते हैं।

प्र० ६५-द्रव्य से अवधिज्ञान कितना जानता है ?

उ० अवधिज्ञानी जघन्य से अनन्त रूपी द्रव्यों को जानता और देखता है; उत्कृष्ट सम्पूर्ण रूपी द्रव्यों को जानते तथा देखते है।

प्र० ६६-क्षेत्र से कितना जानते हैं ?

उ० अवधिज्ञानी जघन्य अंगुल के असंख्यातवे भाग जितने क्षेत्र के रूपी द्रव्यों को जानते और देखते है। उत्कृष्ट अलोक में, लोक प्रमाण असंख्यखण्डो को जान सकते है तथा देख सकते है।

प्र० ६७-काल से कितना जानते है ?

उ० जघन्य अवधिज्ञानी आवलिका के असख्यातवे भाग जितने काल के रूपी द्रव्यों को जानता तथा देखता है और उत्कृष्ट असंख्य उत्सर्पिणी अवसर्पिणी प्रमाण, अतीत अनागत काल के रूपी पदार्थो को जानता तथा देखते हैं।

प्र० ६८-भाव से कितना जानते है ?

उ० जघन्य अवधिज्ञानी रूपी द्रव्यों के अनन्त भावों को-पर्याय को जानते तथा देखते है। उत्कृष्ट अनन्तानन्त भावों को जानता तथा देखता है।

प्र० ६९-ऋजुमति मनः पर्याय ज्ञान किसे कहते है ?

उ० दूसरे के मन में स्थित पदार्थ के सामान्य स्वरुप को जानना अर्थात् इसने घड़े को लाने का विचार किया है। इत्यादि साधारण रूप से जानना।

प्र० ७०-विपुलमति मनःपर्याय ज्ञान किसे कहते है ?

उ० दूसरे के मन में स्थित पदार्थ के अनेक पर्यायों को जानना अर्थात् इसने जिस घड़े का विचार किया है। वह अमुक धातु का है, अमुक देश का, अमुक रंग का

इत्यादि। विशेष अवस्था के ज्ञान को विपुलमति-ज्ञान कहते है।

प्र० ७१-द्रव्य से मन.पर्याय ज्ञान कितना जानता है ?

उ० ऋजुमति मनोवर्गणा के अनन्त प्रदेश वाले अनन्त स्कन्धों को देखता है। विपुलमति, ऋजुमति की अपेक्षा अधिक होती है।

प्र० ७२-काल से कितना जानता है ?

उ० ऋजुमति पल्योपम के असख्यातवें भाग जितने भूत-काल तथा भविष्यकाल के मनोगत भावों को देखता है। विपुलमति, ऋजुमति की अपेक्षा कुछ अधिक काल के, मनोगत भावों को देखता है और जानता है।

प्र० ७३-भाव से कितना जानते है ?

उ० ऋजुमति मनोगत द्रव्य के असख्यत पर्यायो को देखता है, विपुलमति, ऋजुमति की अपेक्षा कुछ अधिक पर्यायों को जानता और देखता है।

प्र० ७४-मतिज्ञानावरणीय कर्म किसे कहते है ?

उ० भिन्न-२ प्रकार के मतिज्ञानों के आवरण करने वाले, भिन्न-२ कर्मो को मतिज्ञानावरणीय कर्म कहते है।

प्र० ७५-श्रुत ज्ञानावरणीय किसे कहते है ?

उ० श्रुत ज्ञान के चौदह अथवा बीस भेद कहे गये हैं, उनके आवरण करने वाले कर्मो को श्रुतज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं।

प्र० ७६-अवधिज्ञानावरणीय किसे कहते है ?

उ० पूर्वोक्त भिन्न-२ प्रकार के अवधिज्ञानों के आवरण करने वाले कर्मों को अवधि ज्ञानावरणीय कर्म

कहते है ।

प्र० ७७-मन:पर्यायज्ञानावरणीय किसे है ?

उ० मन:पर्यायज्ञान के आवरण करने वाले कर्मो को मन: पर्यायज्ञानावरणीय कर्म कहते है ।

प्र० ७८-केवल ज्ञानावरणीय किसे कहते है ?

केवलज्ञान के आवरण करने वाले को केवलज्ञाना-वरणीय कहते है ।

प्र० ७९-चक्षुदर्शनावरणीय किसे कहते है ?

उ० आंख के जरिए जो, पदार्थो के सामान्य धर्म का ग्रहण होता है, उसे चक्षुदर्शन कहते है, उस सामान्य ग्रहण को रोकने वाले कर्म को चक्षुदर्शनावरणीय कहते है ।

प्र० ८०-अचक्षुदर्शनावणीय किसे कहते है ?

उ० आख को छोडकर त्वचा, जीभ, नाक, और मन से जो पदार्थो के सामान्य धर्म का, प्रतिभास होता है, उसे अचछुदर्शन कहते है, उसका जो आवरण करे उसे अचछुदर्शनावरणीय कहते है ।

प्र० ८१-अवधिदर्शनावरणीय किसे कहते है ?

उ० इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना ही आत्मा, को रुपी द्रव्य के सामान्य धर्म का जो बोध होता है, उसके आवरण करने को अवधिदर्शनावरणीय कहते है ।

प्र० ८२-केवलदर्शनावरणीय किसे कहते है ।

उ० संसार के सम्पूर्ण पदार्थो का जो सामान्य अववोध होता है, उसे केवल दर्शन कहते है, उसका आवरण केवल दर्शनावरणीय कहा जाता है ।

प्र० ८३-निन्द्रा किसे कहते है ?

उ० जो सोया हुआ जीव थोड़ी सी आवाज़ से जागता है,

उसे जगाने में अधिक मेहनत नहीं करना पड़ती, उसकी नींद को निद्रा कहते हैं, जिस कर्म के उदय से ऐसी नीद आवे, उस कर्म का नाम 'निद्रा' है।

प्र० ८४-निद्रा किसे कहते है ?

उ० जो सोया हुआ जीव, बड़े जोर से चिल्लाने या हाथ जोर से हिलाने से बड़ी मुश्किल से जागता है, उसकी नीद को निद्रा निद्रा कहते है।

प्र० ८५-प्रचला किसे कहते है ?

उ० खड़े-२ या बैठे-२ जिसको नीद आती है। उसकी नींद को प्रचला कहते है।

प्र० ८६-प्रचला प्रचला किसे कहते है ?

उ० चलते फिरते जिसको नींद आती है, उसकी नीद को प्रचला प्रचला कहते है, जिस कर्म के उदय से ऐसी नीद आवे, उसे प्रचला प्रचला नाम कर्म कहते हैं ?

प्र० ८७-स्त्यानगृद्धिनिद्रा किसे कहते है ?

उ० जो जीव, दिन में अथवा रात में सोचे हुए काम को नीद की हालत में कर डालता है, उसकी नीद को स्त्यानगृद्धि निद्रा नाम कर्म कहते हैं।

प्र० ८८-साता वेदनीय किसे कहते है।

उ० जिस कर्म के उदय से आत्मा को विषय सम्बन्धी सुख का अनुभव होता है, वह साता वेदनीय कर्म है।

प्र० ८९-असाता वेदनीय किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से आत्मा को अनुकूल विषयों की अप्राप्ति हो, अथवा प्रतिकुल विपयों की प्राप्ति से, दु:ख का अनुभव होता है, वह असाता वेदनीय कर्म है।

प्र० ९०-दर्शन मोहनीय किसे कहते है ?

उ० जो पदार्थ जैसा है, उसे वैसा ही समझना, यह दर्शन है, अर्थात तत्वार्थ श्रधान को दर्शन कहते है। यह आत्मा का गुण है। इसके घात करने वाले कर्मो को दर्शनमोहनीय कर्म कहते है।

प्र० ९१-चारित्र मोहनीय किसे कहते ?

उ० जिसके द्वारा आत्मा अपने असली स्वरुप को पाता है, उसे चारित्र कहते है, यह भी आत्मा का गुण है, इसका घात करने वाला चारित्र मोहनीय कर्म है।

प्र० ९२-क्षायिकसम्यक्त्व किसे कहते है ?

उ० मिथ्यात्व, मोहनीय, मिश्र मोहनीय, सम्यक्त्व मोह-इन तीन प्रकृतियों के क्षय होने से आत्मा में जो परिणाम विशेष होते है, उसे क्षायिकसम्यक्त्व कहते है।

प्र० ९३-औपशमिक सम्यक्त्व किसे कहते है ?

उ० दर्शनमोहनीय की उपर कही हुई तीनों प्रकृतियों के उपशम से आत्भा में जो परिणाम होता है, उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते है।

प्र० ९४-क्षायोपशमिक सम्यक्त्व किसे कहते है ?

उ० मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के क्षय से तथा उपशम से और सम्यक्त्व मोहनीय कर्म के उदय से, आत्मा में जो परिणाम होता है, उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं।

प्र० ९५-वेदवंदक सम्यक्त्व किसे कहते है ?

उ० छायोपशमिक सम्यक्त्व में वर्तमान जीव, जबसम्यक्त्व मोहनीय के अन्तिम पुद्गलों के रस का अनुभव करता है, उस समय के उसके परिणाम को वेदक सम्यक्त्व कहते हैं ?

प्र० ९६-सास्वादान किसे कहते ?

उ० उपशमसम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यात्व के अभिमुख हुआ जीव जब तक मिथयात्व को नही पाता, तब तक के उसके परिणाम विशेप का सास्वादान कहते हे।

प्र० ९७-जीव तत्व किसे कहते है ?

उ० जो प्राणों को धारण करे, पाच इन्द्रियां, तीन वल, आयु, श्वासोंच्छ्वास इनको धारण करें। मुक्त जीवों में भाव प्राण होते है। जीव तत्त्व के चौदह भेद है। ससारी जीवों में द्रव्य प्राण और भाव प्राण दोनों होते है।

प्र० ९८-अजीव किसे कहते है ?

उ० जिसमें प्राण न हो अर्थात् जड़ हो, वह अजीव है पुद्गल धर्मास्तिकाय, आकाश आदि अजीव है। अजीव के १४ भेद कहे गये है।

प्र० ९९-पुण्य किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से जीव को सुख का अनुभव होता है, वह द्रव्य, पुण्य और जीव के शुभ परिणाम दान दया आदि भाव पुण्य है। पुण्य के ४२ भेद है।

प्र० १००-पाप किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से जीव, दु:ख पाता है, अनुभव करता है, वह द्रव्य पाप है और जीव का अशुभ परिणाम भाव पाप है, पाप तत्व के ८२ भेद है।

प्र० १०१-आश्रव किसे कहते है ?

उ० कर्मो के आने का द्वार, जो जीव के शुभ अशुभ परिणाम है, या आत्मा से सम्बन्ध करने के लिए जिसके द्वारा कर्म पुद्गल आते हैं, वह भाव आश्रव

शुभ अशुभ परिणामों को उत्पन्न करने वाली अथवा शुभ अशुभ परिणामों से स्वयं उत्पन्न होने वाली प्रवृतियों को द्रव्याश्रव कहते है, आश्रवतत्व ४२ भेद है।

प्र० १०२-सवर किसे कहते है ?

उ० आते हुये नये कर्मो को रोकने वाला आत्मा का परिणाम, भाव संवर और कर्म पुद्गलो की रुकावट को द्रव्य संवर कहते है, संवर के ५७ भेद है।

प्र० १०३-बध किसे कहते है ?

उ० कर्म पुद्गलों का जीव-प्रदेशो के साथ, दूध पानी की तरह आपस में मिलना द्रव्यबंध है, द्रव्य बध को उत्पन्न करने वाले अथवा द्रव्य बध से उत्पन्न होने वाले आत्मा के परिणामों को भाव बध कहते है। बंध के चार भेद है।

प्र० १०४-मोक्ष किसे कहते है ?

उ० सम्पूर्ण कर्म-पुद्गलों का आत्म प्रदेश से जुदा हो जाना द्रव्य मोक्ष और द्रव्य मोक्ष के जनक अथवा द्रव्य मोक्ष जन्य आत्मा के विशुध परिणाम भाव मोक्ष है। मोक्ष के नव भेद है।

प्र० १०५-निर्जरा किसे कहते है ?

उ० कर्मो का एक देश आत्म प्रदेशों से जुदा होता है, वह द्रव्य निर्जरा और द्रव्य निर्जरा के जनक अथवा द्रव्य निर्जरा जन्य आत्मा के शुध परिणाम, भाव निर्जरा है, निर्जरा के बारह भेद है।

प्र० १०६-कपाय किसे कहते है ?

उ० कषाय का अर्थ है जन्म मरण रूप संसार, उसकी आय अर्थात् प्राप्ति करना, उसे कपाय कहते हैं।

प्र० १०७-नो कषाय किसे कहते है ?

उ० कषायों के उदय के साथ जिनका उदय होता है, वे नोकषाय अथवा कषायों को उत्तेजित करने वाले हास्य आदिनवकोनोकपाय कहते हैं।

प्र० १०८-अनन्तानुबंधी किसे कहते है ?

उ० अनन्तानुवधी जीवन पर्यन्त रहता है, जिससे नरक गति की प्राप्ति होती है और समकित का घात होता है, क्रोध का स्वभाव पत्थर के स्तम्भ के समान, मान का स्वभाव पत्थर के खम्भे के समान, माया का स्वभाव वांस का जड़, लोभ का स्वभाव किरमिजी रंग जैसा।

प्र० १०९-अप्रत्याख्यानी कपाय किसे कहते है ?

उ० अप्रत्याख्यानी कषाय एक साल पर्यन्त रहता है, इसके उदय से तिर्यच गति की प्राप्ति होती है। इसकी मर्यादा एक साल की है। देश विरति रूप चारित्र का घात करता है। अप्रत्याख्यानी क्रोध का स्वभाव सूखे तालाव की दरार के समान, मान का स्वभाव अस्थी स्तम्भ के समान, माया का स्वभाव भेड़ की सींग के समान लोभ का स्वभाव गाड़ी के खजंन के समान।

प्र० ११०-प्रत्याख्यानी कषाय किसे कहते है ?

उ० प्रत्याख्यानी कषाय चार महीने पर्यन्त रहती है, इसके उदय से मनुष्य गति की प्राप्ति होती है, सर्वविरति रूप चारित्र का घात करता है, क्रोध का स्वभाव धूली में लकीर के समान, मान का स्वभाव काष्ठ के स्तम्भ के समान, माया का स्वभाव बैल के पेशाब

के समान, लोभ का स्वभाव दीपक के काजल के समान।

प्र० १११-संज्वलन कषाय किसे कहते हैं ?

उ० संज्वलन कषाय एक पक्ष तक रहते हैं, इसके उदय से देव गति प्राप्त होती है, यथाख्यात चारित्र की घात करता है, क्रोध का स्वभाव पानी में लकीर के समान, मान काबेंत के, माया का बांस के छिलके, लोभ का हरिद्र के समान स्वभाव होता है।

प्र० ११२-कारक समकित किसे कहते हैं ?

उ० जिनोक्त कार्य को करने से तथा गुरुवंदन, सामायिक प्रतिक्रमण आदि को करना कारक समकित है।

प्र० ११३-रोचक समकित किसे कहते है ?

उ० जिनोक्त कार्यं में रुचि करना अर्थात् गुरुवंदन, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि, शुभ कार्य की रुचि करना रोचक समकित है।

प्र० ११४-दीपक समकित किसे कहते है ?

उ० जिनोक्त कार्य को अर्थात, गुरुवंदन, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि शुभ कार्य इनसे होने वाले लाभो का सभाओं मे समर्थन करना, दीपक समकित कहते है।

प्र० ११५-हास्य कर्म किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से कारण वश अर्थात भांड आदि की चेष्टा को देखकर अथवा बिना कारण हंसी आती है, वह हास्य मोहनीय कर्म कहलाता है।

प्र० ११६-रति कर्म किसे कहते हैं ?

उ० जिस कर्म के उदय से कारण वश अर्थात् बिना कारण

पदार्थों में अनुराग हो, प्रेम हो, वह रति मोहनीय कर्म कहते है।

प्र० ११७-अरति किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से कारणवश अर्थात् विना कारण पदार्थो में अप्रीति हो, उद्वेग हो, उसे अरति मोहनीय कर्म कहते है।

प्र० ११८-शोक कर्म किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से कारणवश अर्थात् बिना कारण शोक हो, वह शोक मोहनीय कर्म है।

प्र० ११९-भय मोहनीय किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से कारणवश अर्थात् बिना कारण शोक हो, वह शोक मोहनीय कर्म है।

प्र० १२०-जुगुप्सा मोहनीय किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से कारणवश अर्थात् बिना कारण मासादि बीभत्स पदार्थों को देखकर घृणा होती है, वह जुगुप्सा मोहनीय कर्म है।

प्र० १२१-स्त्री वेद किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से स्त्री को पुरुप के साथ भोग करने की इच्छा होती है, वह स्त्री वेद है। अभिलाषा में कारिषाग्नि का दृष्टान्त है।

प्र० १२२-पुरुष वेद किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से पुरुष को स्त्री के साथ रमण करने की इच्छा होती है, वह पुरुष वेद कर्म है, अभिलाषा में तृणाग्नि का दृष्टान्त है।

प्र० १२३-नपुंसक वेद किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से स्त्री और पुरुष दोनों के साथ

रमण करने की इच्छा होती है। अभिलाषा में नगर दाह का दृष्टान्त है।

प्र० १२४-गतिनाम कर्म क्या है ?

उ० जिस कर्म के उदय से जीव, देव नारक आदि अवस्थाओं को प्राप्त करता है। गति नाम कर्म कहते हैं।

प्र० १२५-जाति नाम कर्म क्या है।

उ० जिस कर्म के उदय से जीव, एकेन्द्रियादि अवस्थाओं को प्राप्त करता है, उसे जाति नाम कर्म कहते है।

प्र० १२६-शरीर नाम कर्म क्या है ?

उ० जिस कर्म के उदय से जीव को औदारिक, वैक्रिय, आदि शरीरों की प्राप्ति हो, उसे शरीर नाम कर्म कहते हैं। (तनु नाम कर्म भी कहते है)

प्र० १२७-अगोपांग नाम कर्म क्या है ?

उ० जिस कर्म के उदय से जीव अंग (सिर, पैरादि) और उगली उपांग (कपाल) के आकार में पुद्गलों का परिणमन होता है, उसे अंगोपांग नाम कर्म कहते है।

प्र० १२८-बधन नाम क्या है ?

उ० जिस कर्म के उदय से, प्रथम ग्रहण किये हुए औदारिक आदि शरीर पुद्गलों के साथ गृह्यमाण औदारिक आदि पुद्गलों का आपस से सम्बन्ध हो, उसे बंधन नाम कर्म कहते है।

प्र० १२९-संघातन नाम कर्म क्या है ?

उ० जिस कर्म के उदय से शरीर योग्य पुद्गल प्रथम ग्रहण किये हुए शरीर पुद्गलों पर व्यवस्थित रूप से स्थापित किये जाते हैं, उसे संघातन नाम कर्म कहते हैं।

प्र० १३०-संहनन नाम कर्म क्या है ?

उ० जिस कर्म के उदय से शरीर में हाडों की संधियां दृढ़ होती है, जैसे कि लोहे की पट्टियों से कपाट मजबूत किये जाते है, उसे संहनन नाम कर्म कहते हैं।

प्र० १३१-संस्थान नाम क्या है ?

उ० जिस कर्म के उदय से, शरीर के जुदे-जुदे शुभ या अशुभ आकार होते हैं। उसे संस्थान नाम कर्म कहते है।

प्र० १३२-वर्ण नाम किसे कहते हैं ?

उ० जिस कर्म के उदय से जीव (शरीर) में कृष्णादि, गौरादि रंग होते हैं, उसे वर्णनाम कर्म कहते है।

प्र० १३३-गंध नाम किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से शरीर की अच्छी बुरी गंध हो, उसे गंधनाम कर्म कहते है।

प्र० १३४-रसनाम किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से शरीर में खट्टे, मीठे आदि रसों की उत्पति होती है, उसे रस नाम कर्म कहते हैं।

प्र० १३५-स्पर्श नाम किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से शरीर में कोमल रूक्षादि स्पर्श हो, उसे स्पर्श नाम कर्म कहते हैं।

प्र० १३६-आनुपूर्वी नाम किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से जीव विग्रहगति में अपने उत्पत्ति स्थान पर पहुंचता है, उसे आनुपूर्वी नाम कर्म कहतें है।

प्र० १३७-विहायो गति कर्म किसे कहते हैं ?

उ० जिस कर्म के उदय से जीव की चाल हाथी या बैल की चाल के समान शुभ अथवा ऊंट या गधे की चाल

के समान अशुभ होती है। उसे विहायोगति नाम कर्म कहते हैं।

प्र० १३८-अपवर्त्तनीयु कहते हैं ?

उ० बाह्य निमितों से जो आयु कम हो जाती है, उसे अपवर्तनीयु कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जल में डूबने, आग में जलने, हथियार की चोट, जहर खाने से जो अकाल मृत्यु होती है, वह अपवर्तनीय आयु है।

प्र० १३९-अनपवर्त्तनीय आयु किसे कहते है ?

उ० जो आयु किसी भी कारण से कम न हो, अर्थात् जितने काल की पहले बांधी गई है। उतने काल तक भोगी जावे, उस आयु को अनपवर्त्तनीय कहते है।

प्र० १४०-नरक गति नाम कर्म किसे कहते है ?

उ० जिस नाम कर्म के उदय से जीव को ऐसी अवस्था प्राप्त हो, कि जिससे यह नारक हो, ऐसा कहा जाय, वह नरक गति नाम कर्म है।

प्र० १४१-तिर्यंचगति नाम किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसी अवस्था प्राप्त हो, कि जिसे देख यह तिर्यंच है, ऐसा कहा जाय, वह तिर्यंचनाम कर्म है।

प्र० १४२-मनुष्य गति नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ० जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसी अवस्था प्राप्त हो कि, जिसे देख यह मनुष्य है, ऐसा कहा जाय, वह तिर्यंच मनुष्य गति नाम कर्म है।

प्र० १४३-देवगति नाम किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से ऐसी अवस्था प्राप्त हो कि जिससे यह देव है, ऐसा कहा जाय, देवगति नाम

कर्म है ।

प्र० १४३-औदारिक शरीर किसे कहते है ?

उ० उदार अथवा प्रधान स्थूल पुद्गलों से बना हुआ शरीर औदारिक कहलाता है, जिस कर्म से ऐसा शरीर मिले, उसे औदारिक शरीर कहते हैं ।

प्र० १४४-वैक्रिय शरीर किसे कहते हैं ?

उ० जिस शरीर में विविध क्रियाए होती है, वैक्रिय शरीर कहते है । जिस कर्म के उदय से ऐसा शरीर मिले, उसे वैक्रिय नाम कर्म कहते है । विविध क्रियाए ये है । एक स्वरुप धारण करना, अनेक स्वरुप धारण करना, छोटा शरीर धारण करना या वनाना, अदृश्य शरीर बनाना, भूमि पर चलने योग्य शरीर वनाना इत्यादि ।

प्र० १४५-आहारक शरीर किसे कहते है ?

उ० चतुर्दशपूर्वधारी मुनि अन्य क्षेत्र मे वर्तमान तीर्थंकर से अपना संदेह निवारण करने अथवा उनका ऐश्वर्य देखने के लिये जब उक्त क्षेत्रों को जाना चाहते है, तब लब्धि विशेष से एक हाथ प्रमाण अतिविशुद्ध स्फटिक सा निर्मल जो शरीर धारण करते है, उसे आहारक शरीर कहते है, जिस कर्म के उदय से ऐसे शरीर की प्राप्ति हो, उसे आहारक शरीर कहते है ।

प्र० १४६-तैजस शरीर किसे कहते है ?

उ० तेजः पुद्गलों से बना हुआ शरीर तैजस कहलाता है, इस शरीर की उष्णता से खाये हुये अन्न का पाचन

होता है और कोई-२ तपस्वी जो क्रोध से तेजोलेश्या के द्वारा औरों को नुकसान तथा प्रसन्न होकर शीतलेश्या के द्वारा फायदा पहुंचाता है सो इसी तेजः शरीर के प्रभाव से समझना चाहिये, अर्थात् आहारक के पाक का हेतु तथा तेजोलेश्या और शीतल लेश्या के निर्गमन का हेतु जो शरीर है, वह तैजस शरीर है, जिस कर्म के उदय से ऐसे शरीर की प्राप्ति होती है, वह तैजसशरीर नाम कर्म है।

प्र० १४७-कार्मण शरीर किसे कहते है ?

उ० कर्मो का बना हुआ शरीर कार्मण कहलाता है, जीव के प्रदेश के साथ लगे हुए आठ प्रकार के कर्म-पुद्गलों को कार्मण शरीर कहते है, यह कार्मण शरीर; सब शरीरों का वीज है, इसी शरीर से जीव अपने मरण देश को छोड़कर उत्पति स्थान को जाता है, जिस कर्म के उदय से यह शरीर मिले, उसे कार्मण शरीर कहते है।

प्र० १४८-औदारिक अंगोपांग किसे कहते है ?

उ० औदारिक शरीर के आकार में परिणित पुद्गलों से अंगोपांग रुप अवयव जिस कर्म के उदय से होता है, उसे औदारिक अंगोपांग नाम कर्म कहते है।

प्र० १४९-वैक्रिय अंगोपांग किसे कहते हैं ?

उ० जिस कर्म के उदय से वैक्रिय शरीर रुप परिणिति से अंगोपाग रुप अवयव बनते है, वह वैक्रिय अंगो-पाग नाम कर्म है, इसी प्रकार आहारक अंगोपांग भी जानना चाहिये।

प्र० १५०-औदारिक वन्धन किसे कहते हैं ?

उ० जिस कर्म के उदय से पूर्व गृहित (प्रथम ग्रहण किये

हुए) औदारिक पुद्गलों के साथ ग्राह्यमाण वर्तमान समय में जिनका ग्रहण किया जा रहा हो, ऐसे औदारिक पुद्गलों का आपस में मेल हो जावे, औदारिक वन्धन नाम कर्म कहते है।

प्र० १५२-वैक्रिय बन्धन किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म से पूर्व गृहित वैक्रिय पुद्गलों के साथ ग्राह्यमाण वैंक्रिय पुद्गलों का आपस में मेल होना, वैक्रिय बन्धन है।

प्र० १५३-आहारक वन्धन किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म से पूर्व गृहित वैक्रिय पुदगलों के साथ ग्राह्यमाण वैक्रिय पुद्गलों का आपस में सम्वन्ध हो, वह आहारक वन्धन है।

प्र० १५४-तैजस् बन्धन किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से पूर्व गृहीत तैजस पुद्गलों के साथ ग्राह्यमाण तैजस् पुद्गलों का परस्पर वन्धन हो वह तैजस शरीर बन्धन नाम कर्म है।

प्र० १५५-कार्माण बंधन किसे कहते हैं।

उ० जिस कर्म के उदय से पुर्वगृहित कार्माण पुद्गलों के साथ ग्राह्यमाण कार्माण पुद्गलों का पर स्पर सम्बन्ध हो वह कार्माण शरीर बंधन नाम कर्म है।

प्र० १५६-औदारिकादिसंघातन किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर के रुप में परिणित पुद्गलों का परस्पर सानिय हो, वह औदारिक संघातन है, इसी प्रकार वैक्रिय, आहारकादि का समझना चाहिये।

प्र० १५७-वज्रऋषभ नाराज सहंनन किसे कहते हैं ?

उ० वज्र का अर्थ है खीला, ऋषभ का अर्थ है, वेष्टनपट्ट और नाराच का अर्थ है दोनों तरफ मर्कट बंध, मर्कट बंध से बधी हुई हो, हड्डियों के ऊपर तीसरी हड्डी का वेष्टन हो, और तीनों भेद ने वाली हड्डी का खीला जिस सहंनन में पाया जाय, उसे वज्रऋषभनाराच-सहंनन कहते है।

प्र० १५८-ऋषभनाराच संहनन किसे कहते है ?

उ० दोनो तरफ हाडो का मर्कट बन्ध हो, तीसरे हाड का वेष्टन हो, लेकिन तीनों को भेदने वाला हाड का खीला न हो, तो ऋषभनाराच सहंनन कहते है।

प्र० १५९-नाराच सहनन किसे कहते है ?

उ० जिस रचना से छहोतरफ मर्कट बन्ध हो लेकिन वेष्टन और खीला न हो उसे नाराच सहंनन कहते है जिस कर्म के उदय से नाराचसहंनन नाम कर्म कहते है।

प्र० १६०-अर्धनाराच सहंनन किसे कहते है ?

उ० जिस रचना में एक तरफ मर्कट बन्ध हो और दूसरी तरफ खीला हो उसे अर्धनाराच सहंनन कहते है।

प्र० १६१-किलिका सहंनन किसे कहते है ?

उ० जिस रचना में मर्कट बंध और वेष्टन न हो किन्तु खीले से हड्डियां जुड़ी हो वह किलिका सहनन नाम कर्म कहते है।

प्र० सेवार्त सहंनन किसे कहते है ?

उ० जिस रचना में मर्कट, बंधन, वेष्टन खीला न हो कर यों ही हड्डियां आपस में जुड़ी हो वह सेवार्त सहंनन नाम कर्म कहते है।

प्र० १६३-समचतुरस्त्र संस्थान किसे कहते है।

उ० सम का अर्थ है समान चतु का अर्थ है चार और अस्त्र का अर्थ है कोण अर्थात पालकी मारकर बैठने से जिस शरीर के चारों कोण समान हो अर्थात आसन और कपाल का अन्तर दोनो जानुओ का अन्तर दक्षिण एकन्ध और वाम जानु का अन्तर तथा वामस्कन्ध और दक्षिण जानु का अन्तर समान हो उसे समचतुरस्त्रसस्थान नाम कर्म कहते है।

प्र० १६४-न्यग्रोध संस्थान किसे कहते है ?

उ० बड के वृक्ष को न्यग्रोध कहते है। उसके समान जिस शरीर में नाभि से उपर के अवयव पूर्ण है। किन्तु नाभि से नीचे के अवयव अपूर्ण होने हो वह न्यग्रोधपरि मण्डल संस्थान है वह जिस कर्म से प्राप्त होता है उसे न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थाननाम कर्म कहते है।

प्र० १६५-सादि संस्थान किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म से शरीर में नाभि से नीचे के अवयव पूर्ण और उपर के हीन हो उसे सादि संस्थान कहते है।

प्र० १६६-कुब्ज किसे कहते है ?

उ० जिस शरीर में हाथ, पैर, गर्दन आदि अवयव हीन हो, कुब्ज सस्थान कहते है।

प्र० १६७-वामन किसे हते है ?

उ० जिस शरीर में हाथ, पैर, अवयव हीन, छोटे हो, किन्तु छाती, पीठ, पेट पूर्ण हो, उसे वामन संस्थान कहते है।

प्र० १६८-कृष्ण नाम किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर कोयले जैसा काला हो, वह कृष्ण नाम कर्म कहलाता है।

प्र० १६९-नील नाम किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर तोते के पंख के के समान हरा हो, वह नील नाम कर्म कहलाता है।

प्र० १७०-लोहित नाम किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर हिंगलु या सिदु ंर जैसा लाल हो वह लोहित वर्ण नाम कर्म कहलाता है।

प्र० १७१-पीत नाम किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर हल्दी के जैसा पीला या शंख जैसा श्वेत हो, वह क्रम से पीतया श्वेत वर्ण नाम कर्म कहलाता है।

प्र० १७२-कटु नाम किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर का रस नीम या चिरायते जैसा कटु हो या सोठ, काली मिर्च जैसा चरपरा हो, उसे कटु नाम कर्म कहते है।

प्र० १७३-कषैला नाम किसे कहते हैं ?

उ० जिस कर्म के उदयसे जीवका शरीर आंवला,बहेडा जैसा कषैला, नीबू, इमली जैसा खट्टा, जंख जैसा मीट्ठा हो वह क्रम से कषैला, खट्टा, मीट्ठा नाम कर्म कहलाता है।

प्र० १७४-सुरभिगंध किसे कहते है।

उ० जिस कर्म के उदय से जीव की सुगध कपूर, कस्तुरी के समान हो, वह सुरभिगंध नामकर्म है, यह तीर्थक्कर आदि उत्तम पुरुषों के होता है।

प्र० १७५-दुरभिगध किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से जीव की गंध लहसुनादि सड़े पदार्थों जैसी हो, वह दुर्गंध नाम कर्म कहलाता है।

प्र० १७६-गुरु नाम किसे कहते है।

० जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर लोहे जैसा भारी हो,उसे गुरुना कहते है ।

० १७७-अंगुरु आदि किसे कहते है ?

० जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर आक की रुई के समान हल्का मक्खन जैसा कोमल, गाय की जीभ जैसा खरदरा, बर्फ जैसा ठडा अग्नि के समान गर्म घी के समान चीकना, राख के समान रुक्ष हो वह क्रम से लघु नाम, मृदु स्पर्श नाम, कर्कशनाम, शीत-स्पर्शनाम, उष्णस्पर्श नाम, स्निग्ध नाम, रुक्षस्पर्श-नाम, कर्म कहते है ।

०० १७८-पराघात नाम किसे कहते है ।

उ० जिस कर्म उदय से कमजोरों का तो कहना क्या, बड़े बड़े बलवानों की दृष्टि से भी अजेय समझा जावे, उस प्राणी के पराघात नाम कर्म जानना चाहिये ।

प्र० १७९-श्वासोच्छ्वास नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ० जिस कर्म से जीव श्वासोच्छ्वास लब्धि से युक्त होता है, उसे कहते है ।

प्र० १८०-आताप नाम किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर स्वयं उष्ण न होकर भी उष्ण प्रकाश करता है, वह आताप नाम कर्म है ।

प्र० १८१-उद्योत नाम किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर उष्ण स्पर्श रहित अर्थात शीतस्पर्श फैलाता है, वह उद्योत नाम है ।

प्र० १८०-अगुरुलघु नाम किसे कहते हैं ?

उ० जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर न भारी होता

है, न एकदम हल्का होता है, उसे अगुरुलघु नाम कर्म कहते हैं।

प्र० १८३-तीर्थंकर नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ० जिस कर्म के तीर्थंकर पद की प्राप्ति हो, उसे तीर्थंकर नाम कर्म कहते हैं।

प्र० १८४-निर्माण नाम किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म से उदय से अंग और उपांग शरीर में अपनी २ जगह व्यवस्थित रहते है, उसको निर्माण नाम कर्म कहते है।

प्र० १८५-उपघात नाम किसे कहते हैं ?

उ० जिस कर्म के उदय से जीव अपने ही अवयवों से प्रति जिह्वा, चौर, दन्त, रसौली से दुःख पाता है, उसे उपघात नाम कर्म कहते है।

प्र० १८६-त्रस नाम कर्म किसे कहते है ?

उ० जो जीव सर्दी-गर्मी से अपना बचाव करने के लिए एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान को जावे, वह त्रस नाम कर्म है।

प्र० १८७-बादर नाम किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से आंखों को गोचर होने वाले शरीर की प्राप्ति हो वह बादर नाम कर्म है।

प्र० १८८-पर्याप्त नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ० जिस कर्म के उदय से जीव अपनी २ पर्याप्तियों से पूर्ण होते हैं, उसे पर्याप्त नाम कर्म कहते हैं।

प्र० १८९-आहार पर्याप्त किसे कहते हैं ?

उ० जिस शक्ति के द्वारा जीव बाह्य आहार को ग्रहण कर उसे खल और रस रूप में बदल दे, वह आहार

पर्याप्ति है।
प्र० १९०-शरीर पर्याप्ति किसे कहते है ?
उ० जिस शक्ति के द्वारा जीव रस रूप में बदले हुये आहार के सात धातुओं को रूप में बदल देता है, वह शरीर पर्याप्ति कहलाता है।
प्र० १९१-इन्द्रिय पर्याप्ति किसे कहते है ?
उ० जिस शक्ति के द्वारा जीव धातुओं के रूप मे बदले हुये आहार को इन्द्रियों के रूप में कर दे, वह इन्द्रिय पर्याप्ति है।
प्र० १९२-श्वाच्सोछ्वास पर्याप्ति किसे कहते है ?
उ० जिस शक्ति के द्वारा जीव श्वासोच्छ्वास योग्य पुद्गलों को श्वासोच्छ्वास रूप में बदल कर तथा अवलम्बन कर छोड देता है, उसे श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति कहते है।
प्र० १९३-भाषा पर्याप्ति किसे कहते है ?
उ० जिस शक्ति के द्वारा जीव भाषा योग्य पुद्गलों को लेकर उनको भाषा के रूप से बदल कर तथा अवलम्बन कर छोड देता है, वह भाषा पर्याप्ति है।
प्र० १९४-मनःपर्याप्ति किसे कहते है ?
उ० जिस शक्ति के द्वारा जीव मनोयोग्य पुद्गलों को लेकर उनको मन के रूप से बदल देता है, अवलम्बन कर छोड देता है। वह मनःपर्याप्ति है।
प्र० १९५-प्रत्येक नाम कर्म किसे कहते है ?
उ० जिस कर्म के उदय से एक शरीर का एक ही जीव स्वामी हो, उसे कहते हैं।
प्र० १९६-स्थिर नाम किसे कहते हैं ?
उ० जिस कर्म के उदय से दांत, हड्डी, ग्रीवा आदि शरीर

के अवयव स्थिर अर्थात् निश्चल होते है, उसे स्थिर नाम कर्म कहते है।

प्र० १९६-शुभ नाम किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से नाभी के अवयव शुभ हो, उसे शुभ नाम कहते है।

प्र० १९८-सुभग नाम किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से किसी प्रकार का उपकार किये बिना या किसी तरह के सम्बन्ध के बिना भी जीव सब का प्रीति पाप्र हो, उसे सुभग नाम कहते है।

प्र० १९९-सुस्वर नाम किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर मधुर और प्रीतिकर हो, वह सुस्वर नाम कर्म है।

प्र० २००-आदेय नाम किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से जीव का वचन सर्वमान्य हो, उसे आदेय नाम कर्म कहते है।

प्र० २०२-यशोकीर्ति नाम किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से जीव की सर्वत यश: और कीर्ति फैले, उसे कहते है।

प्र० २०३-स्थावर नाम किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से जीव स्थिर रहे, सर्दी-गर्मी से बचने की कोशिश न कर सके वह स्थावर नाम कर्म कहते है।

प्र० २०४-सूक्ष्म नाम किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसा शरीर जो किसो को रोक न सके, और न खुद ही किसी से रूक ही सके प्राप्त हो वह सुक्ष्म नाम कर्म कहलाता है।

प्र० २०५- अपर्याप्त नाम किसे कहते है ।

उ० जिस कर्म के उदय से जीव स्वयोग्य पर्याप्ति नाम कर्म पूर्ण करे उसे, अपर्याप्त नाम कर्म कहते है ।

प्र० २०६-साधारण नाम कर्म किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से, अनन्त जीवों का एक ही शरीर स्वामी हो, उसे साधारण नाम कर्म कहते है ।

प्र० २०७-अस्थिर नाम किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म से कान, भौहे, जीभादि अवयव अस्थिर अर्थात चपल हो, उसे अस्थिर नाम कर्म कहते है ।

प्र० २०८-अशुभ नाम किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय, से नाभि के नीचे के अवयव पैरादि अशुभ हो, वह अशुभ नाम कर्म है ।

प्र० २०९-दुर्भग नाम किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से उपकार करने वाला भी प्रिय न हो, उसे दुर्भगनाम कहते है ।

प्र० २१०-दुस्वर नाम किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर कर्कश, कठोर, जो सुनने मे अप्रिय लगे, वह दुस्वर नाम कर्म है ।

प्र० २११-अनादेय नाम किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से जीव का वचन आदर युक्त होते हुए भी अनादरणीय हो उसे अनादेय नाम कहते है ।

प्र० २१२-अयशोकीर्ति नाम किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से दुनिया मे अपयश और अपकीर्ति फैल, उसे अयशोकीर्ति नाम कहते है ।

प्र० २१३-उच्चगोत्र कुल किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से उत्तम कुल में जन्म पावे, उसे उच्चगोत्र नाम कर्म कहते है।

प्र० २१४-नीच कुल किसे कहते हैं ?

उ० जिस कर्म के उदय से नीच कुल में जन्म पावे, उसे नीचगोत्र नाम कर्म कहते है।

प्र० २१५-उच्चकुल किसे कहते है ?

उ धर्म और नीति की रक्षा के सम्बन्ध से जिस कुल ने चिरकाल से प्रसिद्धि प्राप्त की है, उसे कहते है।

प्र० २१६-नीच कुल किसे कहते है ?

उ० अधर्म, अनीति आदि बुरे काम का पालन करने से जिस कुल ने चिरकाल से अप्रसिद्धि प्राप्त की हो, उसे नीच कुल कहते है।

प्र० २१७-दानान्तराय किसे कहते है ?

उ० दान की चीजे मौजूद हो, गुणवान पात्र हो, दान का फल जानता हो, तो भी जिस कर्म से जीव को दान करने का उत्साह न हो, उसे दानान्तराय कहते है।

प्र० २१८-लाभान्तराय किसे कहते है ?

उ० दाता उदार हो, दान की चीजें मौजुद हो, याचना में कुशलता हो, तो भी जिस कर्म के उदय से लाभ न हो, सके, वह लाभान्तराय नाम कर्म जानना चाहिये।

प्र० २१९-भोगान्तराय किसे कहते है ?

उ० भोग के साधन मौजुद हो, वैराग्य न हो, तो भी जिस कर्म के उदय से भोग्य चीजों का भोग न हो सके, वह भोगान्तराय नाम कर्म है।

प्र० २२०-उपभोगान्तराय किसे कहते है ?

उ० उपभोग की सामग्री मौजुद हो, विरति न हो, तो भी जिस कर्म के उदय से उपभोग्य पदार्थों का उपभोग न कर सके, वह उपभोगान्तराय है ।

प्र० २२१-वीर्यान्तराय किसे कहते है ?

उ० वीर्य का अर्थ है, सार्मथ्य, बलवान हो, रोग रहित हो, युवा हो, तथापि जिस कर्म्म के उदय से जीव एक तृण भी टेडा न कर सके, उसे वीर्यान्तराय कहते है ।
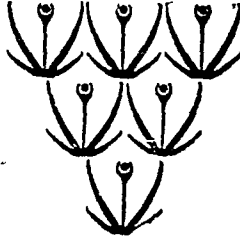
इति-प्रथम कर्म ग्रन्थ सम्पूर्ण

सामान्य प्रश्नोत्तर

प्र० १-स्तुति किसे कहते हैं ?

उ० असाधारण और वास्तविक गुणों का कथन ही स्तुति कहलाती है।

प्र० २-बंध किसे कहते है ?

उ० मिथ्यात्वादि निमित्तो से ज्ञानावरण आदि रुप में परिणित होकर कर्म पुद्गलों का आत्मा के साथ दूध पानी की तरह मिलजाना, उसे बंध कहते हैं।

प्र० ३-अबाघाकाल किसे कहते है ?

उ० बधें हुए कर्म से जितने समय तक आत्मा को बांध नही होती है, अर्थात शुभाशुभ फल का वेदन नही होता, उतने समय को अवाधाकाल जानना चाहिये।

प्र० ४-अपवर्तनाकरण किसे कहते हैं ?

उ० सभी कर्मो का अबाधाकाल अपनी २ स्थिति के अनु-सार जुदा २ होता है। कभी तो वह अबाधाकाल स्व-भाविक कर्म से हो व्यतीत होता है, और कभी अपव-र्तनाकरण से जल्द पुरा हो जाता है, जिस वीर्य शक्ति विशेष से पहले बंधे हुए कर्म की स्थिति तथा रस घट जाते है, उसे अपवर्तनाकरण कहते है।

प्र० ५-उदीरणा किसे कहते है ?

उ० अबाधाकाल व्यतीत हो, चुकने पर भी जो कर्म दलिक पीछे से उदय में आने वाले होते है, उनको प्रयत्न विशेष से खीचकर उदय प्राप्त दलिकों के साथ भोग लेना, उसे उदीरण कहते है।

प्र० ६-सत्ता किसे कहते है ?

उ० बंधे हुए कर्म का अपने स्वरुप को न छोड़कर आत्मा के साथ लगे रहना सप्ता । कहलाती हैं ।

प्र० ७-निर्जरा किसे कहते हैं ?

उ० बंधे हुए कर्म का तप ध्यान आदि साधनों द्वारा आत्मा से अलग हो जाना निर्जरा कहलाती है ।

प्र० ८-सक्रमण करण किसे कहते है ?

उ० जिस वीर्य शक्ति विशेष से कर्म एक स्वरुप को छोड़कर दूसरे सजातीय स्वरुप को प्राप्त कर लेता है, उसे वीर्य विशेष का नाम संक्रमण करण है ।

प्र० ९-स्थितिघात किसे कहते है ?

उ० जो कर्म दलिक आगे उदय में आने वाले है, उन्हें अपर्वतनाकरण के द्वारा अपने २ उदय के नियत समयो हटा देना अर्थात् ज्ञानावरण आदि की बड़ी स्थिति को अपवतनाकरण से हटा देना, स्थितिघात है ।

प्र० १०-रसघात किसे कहते है ?

उ० बंधे हुए ज्ञानावरणीय आदि कर्मो के प्रचुर रस को अपर्वतनाकरण से मद कर देना, यह रसघात है ।

प्र० ११-गुण श्रेणी किसे कहते है ?

उ० जिन कर्म दलिको का स्थितिघात किया जाता है, अर्थात जो कर्म दलिक अपने २ उदय के निमित्त समयो पर हटाये जाते है, उनको प्रथम के अन्तर्मुहूर्त में स्थापित करना । गुणश्रेणी कहलाती है ।

प्र० १२-गुणसंक्रमण किसे कहते है ?

उ० जिन शुभ कर्म प्रकृतियो का बंध अभी हो रहा है, उनमें पहले बांधी हुई अशुभ प्रकृतियों का संक्रमण

कर देना, अर्थात् पहले बांधी हुई अशुभ प्रकृतियों को वर्तमान बंध वाली शुभ प्रकृतियों के रुप में परिणित करना गुणसंक्रमण है।

प्र० १३-अपूर्व स्थिति बंधे किसे कहते है ?

उ० पहले की अपेक्षा अत्यन्त अल्पस्थिति वाले कर्मो को बांधना, अपूर्वस्थितिबंघ कहलाता है।

प्र० १४-अभिनंव कर्म ग्रहण किसे कहते है ?

उ० जिस आकांशछेत्र में आत्मा के प्रदेश है, उसी छेत्र में रहने वाली कर्म योग्य पुद्गल स्कन्धों की वर्गणाओ को कर्म रुप से परिणित कर जीव के द्वारा उनका ग्रहण होना, यही अभिनव कर्म ग्रहण है।

—: समाप्त :—